जीने की सजा

राष्ट्र-भाषा के दक्षिण-भारतीय साहित्यकारों में अग्रणी श्री ए० रमेश चोधरी आरिगपूडि की चुनी हुई पन्द्रह मार्मिक और हृदयस्पर्शी कहानियों का संग्रह है। ये कहानियां केवल कल्पना की बुनावट न होकर जीवन का यथार्थ अंग बनकर हमारे सम्मुख आती हैं, और जीवन को नई दृष्टि से दिखाने का प्रयास करती है। समाज की विषमताओं पर कटु व्यंग्य प्रहार करती हुई चलती हैं और हृदय मे एक उदासी की लहर दौड जाती है जो विवश करती है कुछ सोचने को, कुछ समझने को। व्यावहारिक और वास्तविक जिन्दगी से इनका सीधा सम्बन्ध है और चेतना को झकझोर कर ये चिन्तन के रुख को दूसरी दिशा में मोड देना चाहती है।

ये सभी कहानियाँ दक्षिण भारत के सर्वांगीण जीवन का निर्मल दर्पण हैं जो वहाँ के समाज की आत्मा, आचार-विचार और वैविध्य को पहचानने में सहायक सिद्ध होता है।

सभी कहानियो में वेग, प्रवाह और शक्ति है। कथानकों मे व्यवस्था है। समस्या, विचार, चिन्तन और कला सौन्दर्य के अनेक रूप दर्शनीय हैं।

साहित्य-जगत् मे ये कहानियाँ रोचकता, भिन्नता और शैली की विशेषता के कारण प्रशंसित होंगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

जीने की सजा

जीने की सजा

आरिगपूडि

(पन्द्रह श्रेष्ठ कहानियाँ)

आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

JEENE KI SAZA

short stories

by

A. Ramesh Chaudhry 'Arigpudi'

Rs. 4.00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

4894

मूल्य	:	चार रुपए
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ६ ०
आवरण	:	योगेन्द्र कुमार लल्ला
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

प्रकाशकीय

पिछले कुछ वर्षों में कहानी-साहित्य को काफी बल मिला है, कहानीकारों की ओर से भी और पाठकों की ओर से भी। कहानीकारों ने नवीन भाव-भूमियों पर नये रंग-ढंग से कहानियाँ लिखी हैं और पाठकों ने कहानी को समझने की सूझ-बूझ को पैदा किया है। फिर भी पाठकों को अच्छी कहानियाँ पर्याप्त संख्या में नहीं मिलतीं और उनकी प्यास प्यासी रह जाती है।

श्री ए० रमेश चौधरी आरिगपूडि की इन कहानियों को इस संग्रह के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता है कि ये कहानियाँ पाठकों को किसी सीमा तक तृप्ति प्रदान करेंगी। ये कहानियां केवल कल्पना की बुनावट न होकर जीवन का यथार्थ अंग बनकर हमारे सम्मुख आती हैं, और जीवन को नई दृष्टि से दिखाने का प्रयास करती हैं। समाज की विषमताओं पर कटु व्यंग्य-प्रहार करती हुई चलती हैं और हृदय में एक उदासी की लहर दौड़ जाती है जो विवश करती है कुछ सोचने को, कुछ समझने को। व्यावहारिक और वास्तविक जिंदगी से इनका सीधा संबंध है और हमारी चेतना को झकझोर कर ये चिन्तन के रुख को दूसरी दिशा में मोड़ देना चाहती हैं।

'जीने की सजा' इस संग्रह की एक कहानी है। इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी न होते हुए भी वह इस संकलन की आत्मा है। समाज की विभीषिकाएँ चारों ओर से हमें घेरे हुए हैं और हमें उनसे निरन्तर संघर्ष करते रहना है। कटु जीवन से जीने की प्रेरणा पाना है, दुःखों के पहाड़ों के बीच सुख का सपना देखना है। यही इन कहानियों का मूल तत्व है।

इन कहानियों की एक मुख्य विशेषता और है जिसकी ओर हम विशेष रूप से हिन्दी के पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

हिन्दी की अधिकांश कहानियाँ उत्तर भारत के जीवन और वातावरण को आधार बनाकर लिखी जाती हैं; और हिन्दी का पाठक अहिन्दी प्रान्तों के जीवन-जगत्, आचार-विचारों से सर्वथा अनभिज्ञ रह जाता है। ये सभी कहानियाँ दक्षिण भारत के सर्वांगीण जीवन का निर्मल दर्पण हैं जो वहाँ के समाज की आत्मा, आचार-विचार और वातावरण को पहचानने में सहायक सिद्ध होता है।

सभी कहानियों में वेग, प्रवाह और शक्ति है। कथानकों में व्यवस्था है। समस्या, विचार, चिन्तन और कला-सौंदर्य के अनेक रूप दर्शनीय हैं।

श्री ए० रमेश चौधरी आरिगपूडि एक अनुभवी पत्रकार, 'दक्षिण भारत' और 'चन्दा मामा' के कुशल सम्पादक और मंजे हुए लेखक हैं। आंध्र-प्रदेश-निवासी होने से आपकी मातृ-भाषा तेलगू है किन्तु हिन्दी पर भी पूर्ण अधिकार है; और राष्ट्रभाषा के दक्षिण भारतीय साहित्य-कारों में आपका प्रमुख स्थान है।

साहित्य-जगत् में ये कहानियाँ रोचकता, भिन्नता और शैली की विशेषता के कारण प्रशंसित होंगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

क्रम

श्री मेका रंगय्याप्पाराव जी
को कृतज्ञतापूर्वक
जिनके प्रोत्साहन के बिना
मैं कुछ भी न लिख पाता

१

महाबलिपुरं

पूनम की चाँदनी वहाँ भयावनी है। समुद्र चिंघाड़ता-सा है। नारियल के पेड़ों में हवा हिचकियाँ भर रही है। पत्थर भी पसीने-पसीने हो रहे हैं।

रात्रि के अन्तिम क्षण। उद्विग्न वातावरण। पत्थर की कोख में इतिहास उन्निद्रा की करवटें लेता लगता है। मूक मूर्तियाँ बोलती-सी मालूम होती हैं—शिल्पी की प्रतीक्षा करती। महाबलिपुरं सुप्त है।

भाववर्मा बड़बड़ाता हुआ उठा—"देखा, रेखा, वहाँ उस पहाड़ पर कोई ठुक-ठुक कर रहा है? रथ-पथ पर अपना नाम खोद रहा है—वे ठट्ठा मार-कर हँस रहे हैं। अट्टहास—परिहा···" अभी भाववर्मा कह ही रहा था कि बगल में सोई हुई उसकी पत्नी सहमी-सी उठी। भाववर्मा खिड़की से बाहर देखता चिल्ला रहा था—"अट्टहास, वे अपनी मूर्तियाँ बना रहे हैं—वे दोनों हैं प्रतिमा और अभ्यास। हाथ मिलाकर खिलखिलाकर हँस रहे हैं। वे भागे जा रहे हैं, ह-ह-ह···वे चले गये ह-ह-ह···"

"वहाँ कोई नहीं है, आप सो जाइये।"

"ह-ह-ह···हाँ, कोई नहीं है—मैंने उनको समाप्त कर दिया है·· ह-ह-ह···यह क्या फिर अट्टहास···"

"नहीं, यह तो आपके हँसने की प्रतिध्वनि है," रेखा ने कहा।

"नहीं, नहीं, तू पगली है—देख, प्रतिभा और अभ्यास परिहास कर रहे हैं। वे फिर चले आ रहे हैं—छेनी और हथौड़ी लिए—देख, रथ-पथ पर अभ्यास और प्रतिभा को। कम्बख्त फिर आ रहे हैं।"

रेखा ने खिड़की बन्द कर दी—"आप सो जाइये। आराम कीजिये।"

रेखा ने पति को लिटाते हुए कहा।

"नहीं-नहीं," भाववर्मा तकिये पर सिर रखे हाँफता-हाँफता, निश्चेष्ट-सा कुछ कहता जा रहा था।

"अभी सवेरा होने में देरी है---विश्राम कीजिये, कल महाराजा महेन्द्र-वर्मन आ रहे हैं। दिन-भर काम रहेगा। अब सो जाइये।"

"सोना? खोलो खिड़की। वे लोग फिर आ रहे हैं—सुनते नहीं हो खुट-खुट? खोलो खिड़की। वे अपना नाम खोद रहे हैं।" भाववर्मा उन्मत्त की तरह चिल्ला रहा था।

"आपका भ्रम है। उनको तो मरे हुए अब अर्सा हो गया है। महाबलिपुरं के तो आप ही कलाकार हैं। कल राजा आपका सम्मान करेंगे। अब सो जाइये।" रेखा समझाने लगी।

"और ये लोग अपना नाम खोदकर यह बताना चाहते हैं कि इन लोगों ने ही ये मूर्तियाँ गढ़ी हैं---ये उनके स्वप्न हैं---शायद वे ठीक हैं---नहीं, नहीं ---रेखा, थोड़ा पानी दो। सिर चकरा रहा है।" पत्नी ने उसके गले में पानी डाल दिया। वह थोड़ी देर बिस्तरे पर करवटें लेता रहा। अधमुंदी आँखें खिड़की की तरफ़ लगी हुई थीं। फिर यकायक वह चिल्लाने लगा।

"मुझ पर कोई पत्थर बरसा रहा है---समुद्र बढ़ा आ रहा है---खोलो खिड़की, अभ्यास···प्रतिभा···" उसने खिड़की खोलनी चाही। पर रेखा ने खोलने न दी। वह थककर फिर लेट गया। रेखा ने उसको कोई औषधि दी ---और वह मृत-सा फिर सो गया।

ऐसा लगता था कि उसका मन टुकड़े-टुकड़े हो गया हो। जान कहीं अन्दर थपेड़े खा रही हो। वह रह-रहकर बड़बड़ा उठता था।

पल्लव वंश का राजा महेन्द्रवर्मन उसको देखने के लिए कांचीपुरं से आ रहे थे। महाबलिपुरं अभी बन रहा था। भाववर्मा उसका निर्माता समझा जाता था।

महाबलिपुरं में तोरण बाँधे जा रहे थे। मूर्तियों को सजाया जा रहा था। राजा के सम्मान के लिए हर तैयारियाँ हो रही थीं।

और भाववर्मा······

*　　　*　　　*

भाववर्मा, महेन्द्रवर्मन का कोई दूर का सम्बन्धी था। पल्लव वंशावली में यद्यपि उसका कोई विशेष स्थान न था—परन्तु वह अपनी कला और विद्वता के लिए राज्य-भर में प्रसिद्ध था। उसका सर्वत्र राजगुरु के रूप में सम्मान होता था।

सुनते हैं कांचीपुरं के भव्य मन्दिरों और अट्टालिकाओं के पीछे उसकी ही अनुपम प्रेरणा थी—पल्लव राजमहलों में भी उसी के स्वप्न साकार हुए थे। गगनचुम्बी मन्दिरों के कलश उसके कीर्ति-किरीट थे। स्थापत्य और शिल्प-कला में वह अपने समय का सबसे महान कलाकार समझा जाता था।

रेखा उसकी पत्नी थी। छुटपन में ही विवाह हो गया था। आयु के साथ उसका सौन्दर्य भी खिलने लगा। एकहरा बदन। अत्यन्त रूपवती। शरीर के अंग, लगता था, किसी शिल्पी ने महीनों मेहनत कर गढ़े हों। वह स्वयं स्त्री-सौन्दर्य की परिभाषा थी। पर उसका सौन्दर्य निर्जीव-सा था। वह एक ढाँचा-सी लगती जो अभी प्राणों की प्रतीक्षा कर रही हो। वह एक चित्र के समान थी, जिसमें केवल रेखा मात्र हो, और धूप-छाँह का हाड़मांस न हो।

भाववर्मा दो-चार रेखा खींचकर अपने स्वप्न का मोटा-सा खाका बना देता, और कलाकार उस स्वप्न को भौतिक रूप दे देते। देखते-देखते बड़े-बड़े सौध, प्रासाद, दुर्ग और मन्दिर बन जाते। भाववर्मा को श्रेय मिलता, और कलाकार मूक मूर्तियों में अपना व्यक्तित्व छोड़ अस्तित्वहीन हो जाते।

पल्लव जैन थे। पर महेन्द्रवर्मन ने हिन्दू-धर्म-ग्रहण किया। वह हिन्दू देवी-देवताओं का उपासक बन गया। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ उसके पूज्य ग्रन्थ बन गये। मूर्ति-पूजा का वह आदी हो गया। 'महाभारत' का एक-एक व्यक्ति उसके लिए पूज्य था—सारी-की-सारी महाभारत पूज्य थी। उसने उसको स्थायी स्थूल रूप देना चाहा—'महाबलिपुरं' का धुंधला चित्र उसकी आँखों के सामने आया। उसने तुरन्त भाववर्मा को बुलाया—

"भाववर्मा ! हम चाहते हैं कि महाभारत की प्रत्येक घटना पत्थरों पर गढ़ दी जाय ताकि प्रजा महाभारत की विशालता को जाने और उसके सन्देश को समझे।"

"हाँ, महाराज…पर…"

"हिचकने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम-जैसा व्यक्ति जो कांचीपुरं में महान् प्रासाद और मन्दिर बना सकता है—वह महाभारत को मूर्ति-लिपि में भी लिख सकता है।"

"परन्तु…परन्तु…"

"भाववर्मा, यह तुम्हारे लिए एक महान सुअवसर है। इसका पूरा लाभ उठाओ। ये मन्दिर और ये महल एक दिन धराशायी हो सकते हैं, पर धरा स्वयं धराशायी नहीं हो सकती—तुम प्रस्तर भूमि पर अपना महाभारत रचो जो तब तक रहे जब तक भूमि है। धन की फिक्र न करो, व्यय की चिन्ता मत करो, काम पर लग जाओ।"

"मगर…मगर…महाराज…"

"मैं समझता हूँ, भाववर्मा, तुम क्या कहने जा रहे हो ? पल्लव वंश के राज्यकाल में कलाकारों की कमी नहीं हो सकती। मैंने पिछले दिनों मन्दिर में अभ्यास और प्रतिभा नाम के एक नौजवान दम्पति को काम करते देखा था। उनके हाथ में हुनर है। वे पत्थर में भी जान डाल देते हैं। उनकी बनाई हुई रेखायें बोलती हैं—उनको ले जाओ। जितने मजदूर चाहो ले लो—कहो तो तुम्हारे रहने वगैरह का इन्तज़ाम करने के लिए सेना भेज दूँ—अच्छा, अब तुम्हें जाने की अनुमति है।"

भाववर्मा को नया काम मिला था—कीर्ति के लिए एक नया क्षेत्र। पर वह प्रसन्न न था। उसके मन में ईर्ष्या दहक रही थी। वह न चाहता था कि उसके जीते-जी राजा किसी और कलाकार की उसके समक्ष प्रशंसा करे। अगर कांचीपुरं के मन्दिर जगत्प्रसिद्ध हैं तो इसलिए नहीं कि उनकी चिनाई अच्छी है, या उन पर प्रदर्शित शिल्पकला आश्चर्यजनक है—परन्तु इसलिए कि वे भाववर्मा के भावों का भौतिक प्रतिनिधित्व करते हैं, यह

भाववर्मा का ख्याल था।

भाववर्मा यदि अपनी कल्पना और कला के लिए प्रसिद्ध था तो वह अपने अभिमान के लिए बदनाम भी था। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा और ईर्ष्यालु था। वह स्वयं तो चमकना ही चाहता था, पर यह भी चाहता था कि दूसरा कोई और न चमके। अगर उसकी बुद्धि लोकोत्तर चीज़ों की कल्पना करती थी, तो उसका अभिमान स्वार्थ के परे उसको अन्धा बना देता था। उसको यह समझ में न आता था कि कलाकारों को क्यों श्रेय दिया जाय, जबकि उन्हें काम करने का मौका वह स्वयं देता था।

कभी-कभी भाववर्मा जैसे चतुर व्यक्तियों के लिए भी भावों का अभाव हो जाता। तब भाववर्मा दूसरों के भावों को अपनी कल्पना का परिधान पहनाता और अपनी प्रसिद्धि के सहारे उनको एक रूप दे देता। उसकी प्रसिद्धि की छाँह में कोई और कलाकार पनप नहीं पाता था, न भाववर्मा उन्हें पनपने ही देता था।

भाववर्मा स्वप्नदृष्टा था, पर वह स्रष्टा न था। कला-प्रेरक था, पर स्वयं कलाकार न था। वह विचार था, आचरण न था, जबकि वह स्वयं सदा स्रष्टा और कलाकार होना चाहता था। उसने अपनी इस असफलता को ईर्ष्या और अभिमान की ओट में छुपा रखा था। लौकेषणा की अग्नि में वह अपने को ही इस तरह जलाये जा रहा था।

* * *

जब वह समुद्र के किनारे पहुँचा, जहाँ महाबलिपुरं का निर्माण होना था, वह हताश और निरुत्साह था। भले ही उसके सामने उसकी प्रशंसा कोई न करे, यह काफ़ी था अगर दूसरों की प्रशंसा न की जाय। अभ्यास और प्रतिभा की प्रशंसा उसको अम्ल की तरह काट रही थी। पर वह उनको साथ लाये बिना भी न रह सका। राजाज्ञा थी, लाचारी थी।

तब तक भाववर्मा के भावों के सोते लगभग सूख-से गये थे। उसकी बुद्धि से इतने भाव उपजे कि उसकी बुद्धि की उपजाऊ शक्ति ही जाती रही। प्रसिद्धि इतनी थी कि जो-कुछ उपजता लोग उसको चिर-प्रतीक्षित वरदान

की तरह ले लेते। पर अब भाववर्मा के मन में राजा के शब्द गूँजने लगे—'ये प्रासाद और ये मन्दिर धराशायी हो सकते हैं—कोई ऐसी चीज़ बनाओ जो भूमि के समान दृढ़ और अमर हो।' उसमें बनाने की अभिलाषा थी, पर क्षमता क्षीण हो चुकी थी। वह यह मन-ही-मन जानता था।

बहुत-कुछ सोचने-विचारने के बाद, उसने अभ्यास और प्रतिभा की सहायता ली। वे अभी नौजवान थे। रात-दिन अभ्यास मूर्तियाँ गढ़-गढ़कर अपनी कला को परिपक्व करता था। उसकी पत्नी उसको नित्य नये-नये भाव सुझाती, अपने प्रेम से उसका जीवन आनन्दमय और सार्थक बनाती।

जब वे शुरू-शुरू में उस प्रान्त में आये तो उन्हें लगा कि हर पत्थर कोई मूर्ति या मंदिर हो—प्रतिभा को उनमें नये-नये रूप दिखाई देते—उन्हें गढ़ने के लिए अभ्यास की अंगुलियाँ खुजलाने लगतीं। उनके मन में नये-नये भाव, नयी-नयी कल्पनाएँ तूफ़ानी समुद्र की तरह गरजने लगीं, वे मतवाले-से इधर-उधर फिरने लगे।

जहाँ कहीं पत्थर देखते—दोनों बैठ जाते। अभ्यास अपनी छेनी और हथौड़ा उठाता, पत्थर को मूर्ति के रूप में गढ़ने लगता। अगर एक पत्थर पर ऊब जाता तो दूसरे पत्थर पर काम करने लगता। न खाने की फ़िक्र, न सोने की। न गरमी का डर, न सरदी की परवाह। दिन-रात हथौड़े ले खुट-खुट करते रहते।

तीन वर्ष बीत गये। जहाँ देखो वहीं गढ़े हुए पत्थर थे—कोई आधा गढ़ा हुआ तो कोई पूरा। काम में न कोई क्रम था, न नियम। वहाँ मूर्तियाँ ज़रूर बन रही थीं, पर महाभारत की कहानी नहीं लिखी जा रही थी।

भाववर्मा स्वयं कुछ कर नहीं पा रहा था। वह अपने ही विचारों में इतना उलझा हुआ था कि महाभारत के बारे में कोई विचार आते ही न थे। वह विवश था। पर समय बीतता जाता था। मज़दूरों के लिए भी आवश्यक काम न था। उसने अभ्यास और प्रतिभा को बुलवाकर कहा—

"मैं तुम्हारा काम देखता रहता हूँ, बहुत अच्छा है। कई चीज़ें तो सच-मुच तुमने खूब गढ़ी हैं—पर मैं कहना चाहता था कि उनमें कोई परस्पर

सम्बन्ध नहीं है—तुम्हें मालूम ही है यहाँ हम महाभारत की घटनाओं का पत्थरों पर चित्रण करने आये हैं—तुम्हारी बनाई हुई चीजें अच्छी मूर्तियाँ तो हैं परन्तु उनका महाभारत से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम कोई योजना बनाओ, जिसके अनुसार काम चलता जाय।"

"हम तो सोच रहे थे कि आप योजना बना रहे हैं।"

. भाववर्मा ताना ताड़ गया। उसको गुस्सा भी आया, पर उसने मुसकराते हुए कहा—"महाराज तुम्हारे काम की बहुत प्रशंसा करते थे। मैं चाहता हूँ कि तुम ही योजना तैयार करो। तीन वर्ष हो गये हैं—अब काम बाकायदा शुरू हो जाना चाहिए।"

अभ्यास और प्रतिभा में न केवल पति-पत्नी का ही सम्बन्ध था, उनका काम में भी साझा था। प्रतिभा योजना आदि बनाने में बहुत ही निपुण थी। उसने दस-पन्द्रह दिन में एक योजना तैयार कर दी। काम जोर-शोर से शुरू हो गया।

समुद्र के किनारे अभ्यास कई और कलाकारों के साथ पंच पांडवों के रथ बनाने लगा। द्रौपदी के रथ का निर्माण तो स्वयं प्रतिभा की निगरानी में होता। अभ्यास भी उसमें खास दिलचस्पी लेता था।

जब तक काम रहता, वे दोनों खूब काम करते, फिर समुद्र के किनारे अठखेलियाँ करते घूमने जाते, गाते-बजाते, मौज उड़ाते। उनके साथ और नौजवान भी आनन्द मनाते। वे दोनों साथ के काम करनेवालों में काफ़ी लोकप्रिय हो गये थे। उनका प्रेम आदर्श प्रेम समझा जाता था। और भी उनकी नक़ल करते। उनके बारे में कहानियाँ कहते-सुनाते।

महाबलिपुरं तब तक सुनसान ही था। सिवाय मज़दूरों के वहाँ कोई रहता भी न था। एक तरफ़ विशाल समुद्र और दूसरी तरफ़ पहाड़ियों की पंक्ति—दक्षिण में जंगल, और उत्तर में समुद्र की रेती। आने-जानेवाले भी कम थे। अभ्यास और प्रतिभा की कला अरण्य पुष्प की तरह थी, जिसे न कोई देखता, न पूछता। पर भाववर्मा कुछ और सोच रहा था। उसके हाथ में अब प्रतिभा का बनाया हुआ भावी महाबलिपुरं का विस्तृत चित्र

आ चुका था। वह अभ्यास और प्रतिभा के अभाव में भी महाबलिपुरं तैयार कर सकता था।

रथों पर काम पूरा हो गया। अभ्यास और प्रतिभा एक ऐसा मन्दिर बनाना चाहते थे, जिसके प्राकार पर महान समुद्र भी साष्टांग किया करे। वे ऐसी जगह गये जहाँ एक पहाड़ी जीभ की तरह समुद्र के अन्दर गयी हुई थी। ठीक उस पहाड़ी के अन्त में वे एक मन्दिर बनाने लगे, जिसको बौद्ध धर्मावलम्बी लोगों ने पगोड़ा कहा।

वर्षों की मेहनत से वह मन्दिर भी तैयार हो गया—छोटा-सा मन्दिर—चौकोर—जो आकाश को चुभाकर अपना अस्तित्व नहीं दिखाता था—दूर से ऐसा लगता था जैसे पत्थर हाथ जोड़कर नमस्कार का संकेत कर रहे हों। मन्दिर जैसे अपने आप में पूर्ण था, वैसे ही उसके पत्थर भी थे। अभ्यास और प्रतिभा का परिश्रम कुछ अंश तक सफल हो गया था, यद्यपि थोड़ा काम बाकी था। परन्तु वे पूरी तरह थक चुके थे।

वे तब विश्राम के लिए कुछ दिनों तक कांचीपुरं में रहे। भाववर्मा भी उनके पीछे-पीछे अपनी पत्नी के साथ गया, कहीं ऐसा न हो कि अभ्यास और प्रतिभा सारे कार्य का श्रेय अपने आप ले लें। पर दो-चार बार महेन्द्र-वर्मन ने स्वयं अभ्यास और प्रतिभा को बुलाकर बातचीत की, उनकी प्रशंसा की।

भाववर्मा यह जान और भी जलने लगा।

* * *

जब अभ्यास और प्रतिभा फिर महाबलिपुरं में काम करने गये, तो भाववर्मा भी उनके साथ हो गया। उन्हें बुलाकर उसने कहा—"अब समुद्र के किनारे तो काम खतम हो चुका है। मेरा ख्याल है कि कल तुम इस ऊँची पहाड़ी पर काम करो—महाराज की भी यही आज्ञा है।"

"महाराज की ? परन्तु अभी तो मन्दिर में काम खतम नहीं हुआ है ? मन्दिर में भगवान की मूर्ति की स्थापना भी करनी है। शरीर ज़रूर बना है, पर आत्मा अभी रखनी है।"

"खैर, महाराज भी चाहते हैं कि तुम यह काम करो···"

"पर वह काम अधूरा छोड़कर कैसे यहाँ चले आयें ?"

"चले आओ, यह मेरी आज्ञा है।" अभ्यास और प्रतिभा उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे, पर वे ताड़ गये थे कि जरूर दाल में कुछ काला है। वे भाववर्मा को भली-भाँति जानते थे। वे कभी उसके प्रशंसक थे, पर जब उनको उसके नीचे काम करना पड़ा तो उनको उसकी नीयत मालूम हो गयी थी। वे जान गये थे कि वह प्रसिद्धि के लिये कुछ भी कर सकता है। जब आदमी को काम में आनन्द नहीं मिलता तो वह प्रसिद्धि में मजा लेने लगता है। अभ्यास और प्रतिभा अब भी काम में मग्न हो आनन्द पाते थे। प्रसिद्धि की उन्हें परवाह न थी।

वे अगले दिन से पहाड़ी पर काम करने लगे। पहाड़ी दीवार-सी थी। उसी दीवार पर अभ्यास और प्रतिभा बड़े-बड़े हाथी गढ़ने लगे। वे चाहते थे कि जल्दी वह काम खतम हो और वे फिर से मन्दिर के काम में लग जायें, इसलिए वे रात-दिन काम में लगे रहते।

* * *

चाँदनी खिली हुई थी—अभ्यास और प्रतिभा अपने काम में मस्त थे। भाववर्मा अपने दो-चार विश्वस्त सेवकों के साथ पहाड़ के पिछवाड़े में से आया। ईर्ष्या के मारे उसने ऊपर से अभ्यास और प्रतिभा पर एक बड़ा पत्थर लुढ़का दिया। अभ्यास और प्रतिभा वहीं गिर पड़े। वे कराहने लगे—

"ओ पापी ! हमें तेरी तरह प्रसिद्धि की फिक्र नहीं है। महाबलिपुरं का श्रेय तुझे नहीं मिलेगा—यह उस मन्दिर की तरह शून्य रहेगा जिसमें कभी पूजा नहीं होती—देखनेवाले हर पत्थर में हमारा नाम खुदा हुआ पायेंगे।"

भाववर्मा ने सेवकों की मदद से पाँच-दस और बड़े-बड़े पत्थर उन पर लुढ़का दिये। अभ्यास और प्रतिभा वहीं चकनाचूर हो गये। बाद में भाववर्मा ने उन बेहथियार सेवकों को भी अपनी तलवार का शिकार बनाया।

प्रतिभा के दिये हुए खाके के अनुसार काम यथापूर्व जारी रहा। उनके बनाये हुए मन्दिर की तरह छः और मन्दिर बनाये गये। लोगों को महाबलिपुरं देखने के लिए निमन्त्रित किया जाने लगा। भाववर्मा की कीर्ति फैलने लगी।

पर अकेले में कभी-कभी वह पागल-सा हो जाता। चाँदनी को देखकर वह अपने को कमरे में बन्द कर लेता। वह उस हत्यारे की तरह था—जो पश्चात्ताप तो करता, पर पश्चात्ताप को छुपाने की कोशिश करता। उसकी बुरी हालत थी। चाँदनी में वह अभ्यास और प्रतिभा को अपना नाम खोदते देखता।

कुछ दिनों बाद महाबलिपुरं में काम बन्द हो गया। भाववर्मा उस अवस्था में काम नहीं करवा पाता था। महेन्द्रवर्मन भी जितना काम हो चुका था उससे ही सन्तुष्ट होने का प्रयत्न कर रहे थे।

*　　*　　*

जब महाराजा महेन्द्रवर्मन महाबलिपुरं का उद्घाटन करने आये तब भी भाववर्मा कुछ बड़बड़ा रहा था। महेन्द्रवर्मन ने उसकी बड़बड़ाहट को वार्धक्य की निशानी समझी। भाववर्मा का धूमधाम से सम्मान किया गया। अनेक पारितोषक दिये गये। भूमि दी गयी। जिस शिला पर राजा महेन्द्र-वर्मन का नाम लिखा गया था उसी पर भाववर्मा का नाम भी खोदा गया। तब तक अभ्यास और प्रतिभा अपनी मूक मूर्तियों में मिल चुके थे, उनका किसी ने नाम भी न लिया।

दिन-भर उत्सव मनाये गये। नाच-गाने हुए। पूजा-पाठ हुआ।

शाम को भाववर्मा के साथ महाराज मंदिरों को देखने निकले। अंधेरा हो चुका था, पर एक तरफ़ चन्द्रमा भी निकल रहा था। मंदिर तक पहुँचते-पहुँचते समुद्र की लहरों पर चाँदनी खेल रही थी—और लहरें चाँदनी को पकड़ने की कोशिश कर रही थीं।

भाववर्मा के साथ उनकी पत्नी रेखा भी थी। वह अपने पति की हालत जानती थी, वह अब भी बड़बड़ा रहा था।

महाराज ने दो मन्दिरों का निरीक्षण किया कि भूमि ज़ोर से हिली। तेज

हवा चलने लगी। समुद्र उठने लगा। उनके देखते-देखते सामने के चारों मन्दिर लहरों ने निगल लिये। महाराज किनारे की ओर भागे। भाववर्मा भी भागा—पर भागते-भागते वह एक गिरते मन्दिर के नीचे गिर-पिसकर मर गया।

महेन्द्रवर्मन ने महाबलिपुरं का उद्घाटन तो कर दिया, पर इस दुर्घटना को अपशकुन जान, वह महाबलिपुरं में कभी रहने नहीं गए। न वह कोई बड़ी नगरी ही बन पायी। रेखा ने अपने वैधव्य के दिन कांचीपुरं में महेन्द्रवर्मन के हर्म्य में काटे।

* * *

अब भी जब कभी महाबलिपुरं में तूफ़ान आता है और पहाड़ियों पर पत्थर लुढ़कने लगते हैं तो लोग कहते हैं कि अभ्यास और प्रतिभा खुट-खुट कर रहे हैं। वे उनको कलाकार के रूप में नहीं जानते, परन्तु पीढ़ियों से वे उनको प्रेमी-प्रेयसी के रूप में याद करते आ रहे हैं।

२

परित्यक्ता

मैं बस के लिए कतार में खड़ा था। कतार धीमे-धीमे आगे बढ़ रही थी। कुछ दूर बढ़ी और फिर खड़ी हो गयी। बस में जगह न थी।

कतार के सामने लँगड़े-लूले, किस्मत के मारे ख़ैरात के लिए गिड़गिड़ा रहे थे। 'एक पैसा', 'दया करो', 'आँख नहीं है', 'टाँग नहीं है', 'हाथ कट गये' की आह-भरी भिखारियों की मिन्नतें ट्राम-बस के शोर-शराबे में दब-दबाकर गायब हो जाती थीं।

दिल मचल रहा था। शाम के सात बज रहे होंगे। मद्रास शहर बिजली से चमक रहा था। मैं थका-माँदा खड़ा था। घर जाकर बीवी-बच्चों को देखने के लिये उतावला हो रहा था।

"बच्चोंवालो! दिलवालो! हम पर भी तरस खाओ!" एक अधेड़ व्यक्ति हाथ फैलाकर कराह रहा था—"मैं जुलाहा हूँ—भिखमंगा नहीं हूँ।" उसके बदन पर चीथड़ा होता हुआ एक फटा-मैला कुर्ता था। छोटी-सी हड्डियों की गठरी-सी एक लड़की गोदी में थी। उसकी स्त्री तीस-पैंतीस वर्ष की—गंदी फटी हुई साड़ी पहने बगल में नीचे मुँह किये खड़ी थी—दोनों के इर्द-गिर्द दो-तीन और बच्चे खड़े थे—मुरझाये हुए, भूखे, नंगे।

"बच्चोंवालो···मैं भिखमंगा नहीं हूँ–तक़दीर का मारा बेरोज़गार हूँ।"

बच्चेवाले जो-कुछ दे सकते थे, दे रहे थे। मुझमें भी कहीं दया उमड़ी हाथ खाली जेब में गये और दया का वह झोंका अन्दर-ही-अन्दर कहीं घुट-सा गया।

उस परिवार को न देख सका, शक्ल फेर आगे की तरफ़ देखने लगा—

दूरी पर कपड़े के कारखाने धुआँ उगल रहे थे और न-जाने मुझे क्यों कहीं खाली करघे, खाली झोंपड़े, उजड़े गाँव, भूखे, बेरोज़गार परिवार दिखाई दे रहे थे—भड़कीली औद्योगिक उन्नति की भयंकर काली परछाई।

बस आयी, कतार हिलने लगी, और फिर रुक गयी। मुझे मगर जगह नहीं मिली, वह जुलाहा-परिवार हाथ पसारे चलता जाता था और मेरी आँखों के सामने एक दूसरा दर्दनाक नज़ारा आता जाता था—दुबले-पतले, मृतप्राय, अस्थिपञ्जर—आदमी, स्त्री, बच्चे, दया, भीख, दुर्भिक्ष।

* * *

"कभी वे लाल कालीनों पर चलती थीं—दस नौकर आगे, दस नौकर पीछे—इशारे पर नाचनेवाले गुलाम और अब……" परशुराम कहता-कहता रुक गया।

कतार बढ़ी। वे सामने आयीं। अपना सूत जमा किया, चावल के लिये टिकट लिया, चुपचाप वापिस चली गयीं। उनके साथ-साथ उनका पालतू कुत्ता जा रहा था।

चाल में धाक थी—निश्चिन्तता। चेहरे पर गम्भीरता थी—गोल-गोल चेहरा, बड़ी नुकीली नाक, घुँघराले बाल, पतले होंठ—पत्थर के गढ़े हुए-से लगते थे। उम्र कोई पैंतीस-चालीस की होगी।

"और अब ये दिन आये हैं कि मामूली भिखारियों की तरह सरकारी दया के लिए मोहताज बनने की नौबत आ गयी है।" परशुराम फिर कहने लगा। वह स्त्री दरवाज़े से दूर सड़क पर भीड़ से बचती-बचती अकेली-अकेली चली जा रही थी।

"कभी इन लोगों ने सारे गाँव को खाना खिलाया था। सैकड़ों नौकर इनका नाम जपते-जपते ज़िन्दगी बसर करते थे। अच्छी बड़ी ज़मींदारी थी। सब मिट्टी में मिल गयी।"—परशुराम कहता जाता था।

"अब भी लोग इनकी शादी के बारे में कहा करते हैं—जोहरी तो माला-माल हो गये। कपड़ेवालों का भी एक दिन में इतना व्यापार हुआ जितना कि सालों में नहीं हो पाता था। हर किसी को धोती का जोड़ा दिया गया।

ब्याह के पाँचों दिनों किसी के घर खाना नहीं बनाया गया। इन्हीं के यहाँ सबका न्योता था।

"ये भी अच्छे पुराने घराने की थीं। पिता की ज़मींदारी थी। दादा-परदादे की कोई रियासत थी। इनके पिता तक आते-आते रियासत कर्ज़ से लदी ज़मींदारी मात्र ही रह गयी थी। और आज यह नौबत है कि······"

"आखिर ये हैं कौन ?" मैंने अंग्रेज़ी में पूछा। फिर सम्भलकर कहा, "अच्छा ठहरो, इनका काम निबट जाय, फुरसत से सुनूँगा।"

कतार बढ़ती जाती थी—भूखे, नंगे, फटे-चीथड़े पहने, हाथ में टीन के डिब्बे लिये, अल्यूमीनियम के कटोरे पकड़े, धूल से सने, अकाल-पीड़ित, त्रस्त मनुष्य।

चार साल से रायलसीमा के इलाके में बुरी तरह अकाल पड़ा हुआ था। न मेंह बरसता था, न तालाबों में ही पानी था। पेड़ सूख गये थे। प्यासी ज़मीन भी हज़ारों मुख बाये पानी के लिये छटपटा रही थी। फटेहाल थी। न खाने को अन्न था, न बोने को बीज। जब मनुष्य को ही खाना नहीं तो मवेशियों का तो कहना ही क्या ! हजारों मर रहे थे। लोग जड़-मूल खाकर गुज़ारा कर रहे थे। रोज़ी की तलाश में आस-पास के इलाके में भाग रहे थे।

सरकार ने उनकी सहायता के लिये कई केन्द्र खोल रखे थे। वहाँ उनको काम दिया जाता था और काम के लिए पैसे और चावल दिये जाते थे।

परशुराम उसी इलाके का रहनेवाला था। वह केन्द्र में शुरू से ही काम कर रहा था। मेरी अभी ही तबदीली हुई थी। अकाल से भी मेरा यह पहला परिचय था।

कतार तो अभी खड़ी थी और प्रतिक्षण बढ़ती जाती थी। पर हमारा आज का निश्चित सहायता का परिमाण शीघ्र ही खतम हो गया। दरवाज़े बन्द कर दिये गये। चिल्लाते, कराहते व्यक्ति वहीं बैठ गये—शाम की इन्तज़ारी में जबकि फिर दरवाज़े खुलते थे। हम रोज़ उन्हें इसी हालत में देखते थे पर रोज़ ही नया अनुभव था—कड़ुवा, तीखा, बींधता हुआ।

"हाँ तो······" मैंने अपनी कुर्सी परशुराम की तरफ़ फेरते हुए पूछा।

"ये यहाँ के ज़मींदार की पत्नी हैं। ज़रा इधर तो आइये!" परशुराम ने खिड़की में से कस्बे के एक-मात्र तिमंजिले महल की ओर इशारा करके दिखाया। एक सौ एकड़ का अहाता था—चारों ओर ऊँची चहारदीवारी थी। "ये वहीं रहती हैं।"

"और रोज यहाँ सरकार से आधा सेर चावल लेने के लिये घण्टे-भर प्रतीक्षा करती हैं। तअज्जुब है।" मैंने कहा।

"जब दिन फिरते हैं तो ऐसे फिरते हैं कि घण्टे-भर प्रतीक्षा करने पर भी आधा सेर चावल नहीं मिलते।"

"इनके पति नहीं हैं क्या?"

"हाल ही में गुज़र गये हैं। कंगाली के दिन काट रहे थे। पर तब भी कोई भूला-भटका उनसे कुछ माँग बैठता तो जो-कुछ पास होता वे दे देते। न आज की परवाह, न कल की फिक्र। पुश्तैनी मस्ती थी। जब तक पास रहा देते रहे और जब न रहा तो कर्ज़ा करके दिया। राजा-महाराजाओं का पुराना खानदान है। कभी यह अनन्तपुर का सारा ज़िला उनके नीचे था।"

"जो इतना बड़ा दाता था वह अपनी पत्नी को क्यों यों कंगाल बनाता गया?"

"भाग्य का खेल है।"

"फिर उन्हें कंगाल बनने की नौबत ही क्यों आयी—मकान जो किराये पर दे देते?"

"इनके नाम पर हो तब न? अगर हो भी तो उस पुराने मकान को लेने वाला ऐसा कौन-सा शौकीन धनी इस शहर में है? जिसके नाम पर है वह शहर में रंगरेलियाँ कर रहे हैं और जिसके नाम पर होना चाहिए था वह मकान के एक सुनसान कोने में अपने मुसीबत के दिन काट रही हैं। सिवाय माँ के कोई पूछने-ताछनेवाले नहीं है। रिश्तेदारों ने भी किनारा कर रखा है। और न यह ऐसी हैं कि अपने गुज़ारे के लिये किसी सम्बन्धी के आगे हाथ पसारें। खानदानी स्त्री हैं। खुद काम करके कमाती हैं। जिस दिन पैसा होता है खा लेती हैं और जिस दिन नहीं होता फाके करती हैं—सब चुप-

चाप। किसी को कुछ पता नहीं लगता। आप जिसे अरिस्टोक्रेसी कहते हैं वह रईसी के मज़े मारने में नहीं है बल्कि गरीबी की मुसीबतों को झेलने में है। मजे तो हर रईस मार सकता है——पर सच्चा अरिस्टोक्रेट ही बिना आह भरे मुसीबतें झेल सकता है।"

"पर इनकी यह हालत हुई कैसे ?"

"वह तो बहुत लम्बी-चौड़ी कहानी है। आपने नहीं सुनी ? हर कोई कस्बे में इन्हीं की बातें करता है। अब भी जब कभी कस्बे में से गुज़रती हैं तो पुराने ज़माने के लोग उठकर नमस्कार करते हैं। आपने नहीं देखा ?"

"क्या देखूं ? और क्या सुनूं ? यहाँ तो घड़ी-भर की फुर्सत नहीं मिलती। दिन-रात का यह रोना-चिंघाड़ना सुनते ही दिल ठण्डा पड़ जाता है। कस्बे में जाने का मौका मिले तब न ? सुनाओ भी।"

परशुराम को उस स्त्री के प्रति भक्ति है। उसने मुझसे पहले आये हुए हर अफ़सर को इनकी कहानी सुनायी होगी। वह सुनाते थकता भी नहीं। वह यह दिखाने की हमेशा कोशिश करता है कि लाल लाल ही है चाहे वह गूदड़ों में पड़ा हुआ हो या रेशमी कपड़ों में लिपटा हुआ हो। उसके लिये वह स्त्री लाल है।

"इनकी दर्दभरी कहानी है——हिन्दू स्त्री की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। वह पति के लिए अपने जीवन की आहुति दे देती है, पर पति यह समझ नहीं पाता। अगर समझ भी जाता है तो उसका अभिमान उसको अन्धा बनाये रखता है। वह पुरुष होने के नाते अपने को बड़ा समझता है जबकि पत्नी उसकी धूलि बने रहने में अपना सौभाग्य समझती है।"

"तुम्हारी तो भूमिका ही लम्बी-चौड़ी हो गयी, असल बात पर भी तो उतरो।"

"बात तो छोटी है जो लम्बी-चौड़ी भूमिका में जम-सी गयी है——निष्कर्ष बस इतना ही है।"

"पर फिर भी······"

"जब इनकी शादी हुई तो किसी को क्या मालूम था कि पति के जीते-

जी इनको वैधव्य का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। शादी की वह रौनक थी कि माँ-बाप अब भी सुनाते-सुनाते आँसू बहा बैठते हैं। हाँ तो शादी हो गयी। इनकी माँ भी इनके साथ चली आयीं। इकलौती लड़की थीं। लाड़-प्यार से पली थीं। वह किसी के भरोसे इन्हें छोड़ना नहीं चाहती थीं। इनका पति भी अपने माँ-बाप का इकलौता लड़का था।

डेढ़ साल बाद इनको गर्भ हुआ। माँ का कुतूहल बढ़ने लगा कि लड़का होगा कि लड़की। ज्योतिषियों के भाग फले। वे पति की नज़र बचाकर ज्योतिषियों से भविष्य के बारे में पूछताछ करने लगीं।

किसी बड़े ज्योतिषी ने बताया कि गर्भ में लड़का है पर उसके जन्म के बाद पिता की मृत्यु अवश्यम्भावी है।

दो-चार और ज्योतिषियों ने इस बात को और पक्का कर दिया। इनके और इनकी माँ के दिल में भी बात बैठ गई।

पति की 'अवश्यम्भावी' मृत्यु को बचाने के लिए इन्होंने अपना गर्भ-पात करवा लिया। पका गर्भ था। इनकी हालत ही नाज़ुक हो गई। महीना डेढ़ महीना—सुनते हैं—बिस्तरे पर पड़ी रहीं। कुछ पागलपन-सा भी हो गया। हमेशा गणेश की मूर्ति के सामने हाथ जोड़े बैठे रहतीं। पति-भक्ति के साथ-साथ अपराध की भावना भी उनके मन में शायद धधकने लगी।

पति को यह सब गँवारा नहीं था। पूछ-ताछ करने पर उनको मालूम हो गया कि पत्नी ने गर्भपात करवा लिया है। वह बहुत नाख़ुश हुए। वह इनकी भक्ति को मूर्खता ही समझते रहे और कभी क्षमा न कर पाये। उस दिन से इनका मुँह तक न देखा।

उन्हें ऐसा धक्का पहुँचा कि शराब की शरण लेनी पड़ी। दिन-रात पीकर मस्त पड़े रहते। बाप-दादा के दिनों में ही अच्छी बड़ी रियासत अय्याशी में खतम हो चुकी थी और जो बची-खुची थी सो बोतल के हवाले हो रही थी।

बाद में उन्होंने एक रखैल भी रख ली थी। उसी के साथ अपनी ज़िन्दगी बसर करते थे। महल के साथ लगे बगीचे में दिन-रात शराब के नशे में पड़े

रहते। उस रखैल से दो सन्तान भी हुई।

पर उन्होंने भूलकर भी अपनी ब्याही पत्नी का मुँह न देखा। सुनते हैं उनके पिता भी अपनी जिद्द के पक्के थे। उन्होंने जिद्द में अपनी सारी रियासत बरबाद कर दी पर सिवाय कर्ज के किसी को कुछ न दिया। उनकी पत्नियों में जायदाद के बारे में आपसी कुछ झगड़ा था।

जब इनके पति बिस्तर पर पड़े-पड़े आखिरी दिन काट रहे थे, सारे शरीर पर बड़े-बड़े फोड़े निकले हुए थे, बुरी तरह तकलीफ़ हो रही थी। और उनकी रखैल बच्चों की शिक्षा के बहाने मद्रास में किसी और मनचले रईस को जाल में फँसा रही थी––तब भी उन्होंने इनको अपने पास फटकने नहीं दिया। कोई पुरानी दासी उनकी सेवा करती रही। चालीस-पैंतालीस की उम्र में ही वह गुज़र गये।

जाते-जाते उन्होंने बाप-दादाओं का मकान भी पत्नी के नाम नहीं लिखा। अपनी सन्तान के नाम लिखते गये। वे अब इस मकान को बेचने की कोशिश कर रहे हैं, पर कोई ख़रीददार नहीं मिलता।

जब तक पति जिन्दा रहे वह इनको गुज़ारा-मात्र कुछ देते रहे। उनके गुज़र जाने के बाद यह सूत कातकर, अण्डे बिकवाकर अपनी गुज़र करती रहीं पर मजाल है कभी किसी ने भूल से भी इन पर अंगुली उठाकर एक बात कही हो।

अब अकाल के दिन हैं। कोई सूत भी खरीदनेवाला नहीं। कातने के लिए रूई भी नहीं मिलती––इस काली ज़मीन पर जहाँ पहले कपास की खेती होती थी अब घास भी नहीं उगती। सरकार ही अब उन्हें रूई देती है और उनका सूत खरीदती है। चावल देने का इन्तज़ाम भी करती है।

वह स्त्री जो कभी अपने अन्तःपुर से भी बाहर नहीं आई थी––आज गलियों में फिर रही है।"

परशुराम कहता-कहता उठ खड़ा हुआ और खिड़की के पास आ मकान की ओर हाथ उठाकर कहने लगा, "बस भगवान ही जानता है आलीशान महल में उस ग़रीब महिला पर क्या गुज़र रही है।"

* * *

एक और बस आई। कतार जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगी। कुछ दूर आगे बढ़ी और थम गई। बस में जगह खतम हो चुकी थी। मेरे सामने चार आदमी और खड़े थे। भिखारियों का शोर यथापूर्व जारी था और मेरा मन उस भयानक अकाल को याद कर तड़प रहा था।

दो-तीन साल बाद, ऐसा मौका हुआ कि उस महल के पास ही मुझे रहने को मकान मिल गया। मकान की छत से महल का अहाता दिखाई देता था।

उस साल कुछ बारिश हुई थी। अकाल तो था ही पर उसकी भयानकता पहले जैसी नहीं थी। सरकार की सहायता भी कम कर दी गई थी। मैं लगभग एक महीने से उस महिला को नहीं देख रहा था।

पूरी चाँदनी खिली हुई थी। गर्मी के दिन थे। मैं छत पर बैठा आराम कर रहा था कि अचानक महल की तरफ़ नजर गई।

चार व्यक्ति एक लाश को चुपचाप उठाये अहाते के एक कोने की ओर अंत्येष्टि क्रिया के लिए ले जा रहे थे। आस-पास कोई न था—सिवाय उस महिला के कुत्ते के जो सिर लटकाये लाश के पीछे चला जाता था। वह निस्सन्देह अपनी मालकिन के साथ अन्तिम मंज़िल की ओर एकाकी जा रहा था।

कह नहीं सकता उस महिला की मृत्यु किस हालत में हुई। मुमकिन है कि भूख की शिकार हो गई हो।

जिसके विवाह के जलूस में हज़ारों ने भाग लिया था, अफ़सोस उसकी मृत्यु-यात्रा के समय सिवाय उसके कुत्ते के वहाँ और कोई न था। चार रिश्तेदार शायद लाचार वहाँ बुलाये गये थे।

* * *

फिर एक और बस आई। कतार बढ़ी और मुझे भी जगह मिली।

सामने के शीशे से कपड़े के कारख़ाने की पहाड़-सी इमारत दिखाई देती थी। चिमनी से धुँआँ निकल रहा था।

बस हिली और बस के पीछे जुलाहे का परिवार 'दिलवालो......' कह-कहकर भीख के लिए चिल्ला रहा था।

और मैं उस महिला की अर्थी की कल्पना कर रहा था जो कभी निकाली नहीं गई।

३

पुराना सिक्का

ऐन सड़क के बीचोंबीच पेट्रोल का डिब्बा लिए वे भागे जा रहे थे। नीला लम्बा कुर्ता, तहमद बाँधे। भागने में अजीब चुस्ती थी। सड़क के किनारे उनकी पेकार्ड कार थी। सवेरे का समय, आमदरफ़्त ज्यादा न थी, तेज़ी से भाग रहे थे। फर्लांग के करीब भागे, दीवार फाँदी। उन्हें शायद गेट न दिखाई दिया था और पेट्रोल बंक के अहाते में किसी से बातें करने लगे। मैं पीछे-पीछे चला आ रहा था। आज सवेरे की ड्यूटी थी।

मेरा इनसे अच्छा परिचय है। हमारे गाँव के पास ही इनकी जमींदारी है। इनके पिता के समय अच्छी बड़ी जायदाद थी। दो-ढाई लाख रुपए सालाना आमदनी होती थी। उनके लिए दो-ढाई लाख रुपए भी काफ़ी न थे। छः महीने तक मुश्किल से गुज़ारा होता था। अय्याशी के लिए बदनाम थे। जहाँ जाते स्पेशल ट्रेन में जाते, साथ यार-दोस्त, वेश्यायें और गायिकायें, पंछी-जानवर सब होते थे। रुपए की कीमत पानी की-सी होती थी।

गाँव छोटा ही था और इनके महल के चारों ओर बसा हुआ था। पक्के मकान कम थे, पर जितने भी थे या तो वे जमींदार की किसी वेश्या के थे या उनके किसी और खुशामदी के। गाँव की सारी धन-सम्पत्ति मानो महल में ही संचित थी, और वह वहाँ से भी तेजी के साथ कहीं बही जा रही थी। वह इतनी तेजी से गई कि सरकार को आखिर उनकी जमींदारी सँभालनी पड़ी।

ज़िन्दगी के आखिरी दिनों में इनके पिता को मैंने खुद मेले वगैरह में भीख माँगते देखा है। पागल हो गये थे। विलास का उन्माद था। मोटा,

भारी शरीर, सजे-धजे, हमेशा किसी नशे में रहते । कुछ-न-कुछ बकझक करते रहते। अकेले-अकेले घूमते । यार-दोस्त सब छोड़-छाड़कर चले गये थे। स्पेशल ट्रेन में जानेवाला व्यक्ति अक्सर बस में बिना टिकट के आया-जाया करता। कभी जमींदार था इस वजह से लोग लिहाज करते। सरकार ने इन्हें पागल करार दिया था।

पिता के मरते वक्त इनकी उम्र चौदह वर्ष की थी। इकलौते थे। सरकार ने ही इनकी देखभाल की। किसी स्कूल में थे। शुरू से ही अच्छे शौकीन समझे जाते थे। पढ़ाई आदि में तो निखट्टू थे ही। अब भी लोग इनकी आवारा-गर्दी की कहानियाँ सुनाते हैं।

इक्कीस वर्ष की उम्र होते ही सरकार ने इन्हें जमींदारी वापस कर दी। जमींदारी लेते समय इन्हें एक लाख रुपया नकद मिला और बीस हजार की अच्छी चलती जमींदारी, एक बड़ा महल, और कई मकान।

चढ़ती उम्र। नये-नये शौक। कहनेवाले कहते हैं कि उन्होंने एक लाख रुपये एक-एक हफ्ते में उड़ा दिया था। यकीन नहीं होता। पर जो इन्हें जानते हैं उन्हें मालूम है कि लाख रुपये के होते हुए भी उनके हाथ कितने तंग रहे होंगे। चार कारें खरीदीं—ब्यूक, डोज, शेवरले, स्टेशन वेगन—कारों पर ही पचास हजार रुपया खर्च किया।

मद्रास में एक मकान भी खरीदा। गाँव इनको नापसन्द था। शहर में पले थे, शहर की हवा लग चुकी थी, शहर के ही यार-दोस्त थे। फिर गाँव में जी चाहे ढंग से रहने के लिए हिम्मत भी चाहिये थी, वातावरण भी न था। हर कोई उन्हें आँख फाड़कर देखता।

तेण्डयारपेट में एक मकान था। मकान तो क्या—ईट-पत्थर का ढेर था—न कोई ढाँचा, न शक्ल, पुराने जमाने का, लम्बा सा—कमरे के बाद कमरे, दुमंजिला, कभी गोदाम या धर्मशाला रहा होगा। मकान, कहते हैं, भूतों को प्यारा था।

पैसे के नये जोश में इन्होंने टेनिस के टूर्नामेंट का आयोजन किया। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े खिलाड़ियों को निमन्त्रण दिया। सबको अपने ही घर

में ठहराया। आने-जाने का रेल का फर्स्ट-क्लास किराया दिया। टूर्नामेंट छः-छः दिन तक चलता रहता; और जब खतम होता तो दस-पच्चीस हज़ार रुपया खर्च हो चुका होता। इनको खिलाड़ी तो नहीं कहना चाहिये, खेलने का शौक ज़रूर है।

देखते-देखते एक लाख रुपया उड़ गया और साथ ही पचास हजार रुपये का कर्ज भी हो गया। खर्च बढ़ता जाता था। ऐय्याशी का तमाशा ही ऐसा है कि दिन-प्रतिदिन खर्चीला होता जाता है।

अच्छी बड़ी चंडाल-चौकड़ी थी। दिन-रात नये-नये शौक पूरे किए जाते। आज टेनिस टूर्नामेंट है तो कल शिकार की पार्टी, कभी यहाँ की सैर है, कभी वहाँ की। किसी जगह टिक नहीं पाते थे। वह एक ऐसी किश्ती थे जिस पर न लंगर था, न पतवार ही। बहे जाते थे। जब तक अच्छा मौसम रहा तब तक कोई तकलीफ नहीं रही, फिर अच्छा मौसम भी कितने दिन तक रहता है?

ढाई लाख की ज़मींदारी बिक-बिकाकर बीस हज़ार की ही रह गई थी। इनके बढ़ते विलास के लिए बीस हजार की आमदनी नाचीज़ थी—और इनमें इतना न तजुर्बा था, न तमीज ही कि ज़मींदारी का अच्छा इन्तजाम कर बाकायदा इस बीस हजार रुपये को वसूल करवा लेते। लगान अक्सर बकाया रहते।

कर्ज-पर-कर्ज होता गया। वे दिन भी आये जब कि कर्ज मिलना मुश्किल हो गया। लोगों को इन पर भरोसा न था। पैसे की तंगी अखरने लगी। हाथ-पैर हिलाकर काम न कर पाते थे, ज़मींदार जो ठहरे, बढ़ता खर्च कम भी न होता था। शहर का रहना-सहना, मंहगाई का जमाना! इस बीच इन्होंने किसी नजदीक की रिश्तेदार से शादी भी कर ली।

दो साल भी पूरे न हुए थे कि ज़मींदारी बिकने लगी। अभी पाँच-दस महीने पहले इन्होंने डेल्टा की उपजाऊ ज़मीन इस दाम पर बेची कि कोई बंजर हो। गाँव में वेश्याओं के मकान भी सस्ते में बेच दिये। पैसे की सख्त ज़रूरत थी, भाव-ताव करते तो इन्तज़ारी करनी पड़ती, जो दाम मिले

उन्हीं पर बेच दिये, हाँ हिसाब नकद का था। यार-दोस्तों ने ही रिश्तेदारों के नाम से ख़रीद लिए।

कुछ दिनों तक उस बड़े महल में सिवाय एक चौकीदार के कोई न रहता था। पहले महल को बेचना चाहा पर कोई खरीददार न आया—जो दो-चार आये भी वे इन्हें फुसला-फुसलाकर मुफ्त ले लेना चाहते थे। छोटा-सा गाँव और बड़ा-सा महल। कौन आये सिवाय भूतों के? बाद में पता लगा कि किसी तम्बाखू की कम्पनी को महल किराये पर दे दिया गया था। कम्पनी का तम्बाखू महल की कोठरियों में रखा जाता। अभी कल-परसों क्लब में कोई कह रहा था कि महल में आग लग गई थी। कम्पनी को हजारों रुपये का नुकसान हुआ।

* * *

मेरी इनसे मुलाकात होती रहती है। दोस्त तो नहीं, जान-पहचान के हैं। कभी इन्होंने मेरी मदद भी की थी। जब मैं बेकार था तो इन्होंने वह सहायता की जो मैं भूल नहीं सकता। यह बात दूसरी है कि इनकी सहायता से मेरा खास फायदा नहीं हुआ पर इन्होंने अपनी तरफ से मदद तो की।

बेकार था। बीमा कम्पनी की एजेन्सी ले रखी थी। दोस्तों को तंग कर दोस्ती खराब कर रहा था। रोजी का सवाल था। जिनसे भी थोड़ी-बहुत पहचान थी उनके सिर जा बैठता। कालिज में मैं इन्हें अच्छी तरह जानता था। इनसे भी मिला। तभी इन्हें जमींदारी मिली थी। नई रईसी की निराली भड़कती रौनक थी। पूछते ही पचास हजार का बीमा करवा दिया। दो वर्ष तक प्रीमियम भी दिया, बाद में न देने की वजह से बीमा लेप्स हो गया।

हम कभी इन्हें फक्कड़ कहा करते थे। अक्सर मखौल उड़ाते। होने को तो वह जमींदार के लड़के थे और पैसेवाले भी, पर चाल-ढाल से एकदम गँवार लगते थे——वह एक पुराने सिक्के के समान थे जो कीमती भले ही हो पर चलता न हो।

मैं चलते-चलते उनकी कार के नजदीक आ पहुँचा। मैं सोचने में मश-

गूल था और इस बीच में वह पेट्रोल बंक से वापिस आ इत्मीनान से कार में बैठे हुए थे। आँखों में नींद न थी, बाल जोह मेशा तेल में पुते रहते, सूखे पड़े थे, कपड़े भी मैले—ऐसा लगता था कि किसी लम्बे सफर के बाद कार में खराबी आ गई हो और उन्हें रुक जाना पड़ा हो।

आँखें चार होते ही, मैंने हँसते हुए पूछा, "आज इतनी सवेरे यहाँ कहाँ? घर से या घर की तरफ?"

वह मेरा इशारा ताड़कर हँस दिये—"घर की ओर। वहीं कम्बख्त नींद आ गई।"

"क्यों, घर में श्रीमती जी नहीं हैं क्या?"

"है क्यों नहीं? इन्तज़ारी में होंगी।"

"फिर यहाँ कैसे अटक गये?"

"क्या करें, गाड़ी में पेट्रोल खतम हो गया है।"

"लेने तो गये थे?"

"तुम्हें कैसे मालूम?"

"आपकी कार आगे थी और मैं पैदल पीछे-पीछे आ रहा था। क्यों, पेट्रोल नहीं है क्या?"

"होने को तो है'''आओ, बैठो भी, अगर एक दिन कुछ देर हो गई तो ऐसी कौन-सी आफत आ जाएगी?"

"क्यों, पेट्रोल दिया क्यों नहीं?"

"बंकवाले ने उधार देने से इन्कार कर दिया। आजकल ज़मींदारों की ऐसी बुरी हालत हुई है, क्या कहें? जाने कहाँ कौन-सा आन्दोलन चल रहा है, लोग बिना मुकद्दमेबाज़ी के लगान भी नहीं देते हैं, और यहाँ कोई उधार नहीं देता—मकानवाला, पन्सारी, डाक्टर—सभी को नकद चाहिये। पेट्रोलवाले का दिमाग भी फिर गया है। बिना मालिक की इजाजत के पेट्रोल देना नहीं चाहता'''सिर्फ एक गैलन पेट्रोल ही तो चाहिये।"

"पर आपकी कार में तो पेट्रोल हमेशा भरा रहता है।"

"भरा रहता था।"

"अब कितनी कारें हैं ?"

"तीन अपने लिए रख ली हैं, बाकी दो को टेक्सी बना दिया है।"

"यानी आप भी बिजनेस कर रहे हैं ?"

"बिजनेस-बिजनेस तो क्या, फिल्म कम्पनियों ने ले रखी हैं। तीन महीने हो गए पर एक पैसा नहीं दिया। तकाजा करो तो कहते हैं, बस पिक्चर पूरी होने दीजिये, सब एक साथ चुकता कर देंगे, और पिक्चर कभी पूरी होती नजर नहीं आती।"

"खैर, अब कैसे जाइयेगा ?"

"न-जाने बटुआ कहाँ भूल आया हूँ, जाना है, एक दोस्त को टेनिस के लिये बुला रखा है। प्रतीक्षा कर रहा होगा।"

"क्या मैं······" मैंने अपना बटुआ निकाला।

"नहीं, नहीं, फिक्र मत करो। कोई जान-पहचानवाला दिखा तो छोड़ आयेगा।"

"कार को ताला लगाकर टेक्सी में चले जाइये।"

"कार का ताला बिगड़ा हुआ है। शीशे भी फूट गये हैं। छकड़ा हो गई है।"

मुझे तिरुपतिवाली घटना याद आ गई। वहाँ किसी अच्छे घराने की लड़की को बहकाकर कार में बिठाकर ये बातचीत कर रहे थे। लोगों को पता लगा। उन्होंने लड़की को बाहर आने को कहा और कार के शीशे वगैरह तोड़ दिये। जनाब की भी हड्डी-पसली एक कर दी। पर मैंने हँसते हुए कहा—"है तो पेकार्ड ही, आपकी और गाड़ियाँ कहाँ हैं ? अच्छी-अच्छी ब्यूक थीं।"

"एक तो बेच दी, उसकी जगह यह खरीदी। दो शेड में हैं। टायर नहीं हैं। टायर भी तो आजकल सोने के दाम बिक रहे हैं।"

"बेच क्यों नहीं देते ?"

"बेचना इतना आसान नहीं। कारों का मोह तुम शायद नहीं जानते।

"छोटी कार जो खरीद लेते ? कीमत कम और रखने का खर्च भी कम। पेकार्ड तो पेट्रोल की प्यासी होती है।"

"जब कार रखनी हो तो अच्छे घराने की रखो। ये चलती-फुदकती कारें क्या कारें हैं ? पिजड़े हैं !"

"अच्छा तो अब घर कैसे जाइयेगा ?"

"नहीं जायेंगे। घर भी कौन-सा दफ्तर है। जब रात में ही न रहे तो दिन में रहने की क्या जरूरत है ?"

"वहाँ तो कोई दोस्त आपकी प्रतीक्षा कर रहा होगा।"

"हाँ, पर भाई, टेनिस खेलने का जी भी नहीं रहा। मजा किरकिरा हो गया है।"

"तो यहाँ कब तक बैठे रहियेगा ? ऐसा क्यों न किया जाय······"

"बस में नहीं जायेंगे, भाई। सवेरे-सवेरे ऐसी मनहूस चीज़ पर न चढ़ेंगे।"

"नहीं, नहीं, मेरा मतलब······"

"कि वे सवेरे खाली होती हैं, जाया जा सकता है···कभी बस पर चढ़ा नहीं हूँ। चलो, चढ़कर देखा जाय, बँगले से दो फर्लांग दूर उतार देगी। नहीं यार, हमसे नहीं हो सकता।"

मैं कुछ सोच रहा था और वह कुछ और। हर घड़ी बदलते जाते थे। कभी यह तो कभी वह। किसी चीज़ पर टिककर सोच नहीं पाते थे। उनके सोचने का तरीका ही शायद यह था।

"नहीं, मेरा मतलब यह था, दफ्तर पास ही है, कार को वहाँ रखवा दिया जाय। कुली मिल जायेंगे, धकेल देंगे। वहाँ कोई कार को नहीं छेड़ेगा। टेक्सी लेकर घर चले जाना।"

"कितनी दूर है तुम्हारा दफ्तर ?"

"करीब आधा फर्लांग के फासले पर। आप बैठे रहिये, कुली धकेल देंगे।" आते-जाते दो-एक रिक्शावालों को बुलाकर मैंने कार ठेलने के लिए कहा। जमींदार साहब हँस रहे थे, बच्चों की तरह, जैसे किसी पेराम्बुलेटर

में पड़े हुए हों और कोई आया धकेल रही हो।

"तुमसे मिले बहुत दिन हो गये, आजकल तो दर्शन ही नहीं होते।"

"यह अखबार का काम तो क्या है, चौबीस घंटे की पिसाई है। खाने-पीने के लिए भी मुश्किल से फुर्सत मिलती है।"

"तुम अखबारवाले कब से बन गए? अखबारवालों की जात, माफ करो यार, वही पुलिसवालों की जात है। उनकी तराजू में लहसुन, केसर सभी एक ही पलड़ी पर तुलते हैं। किसी की भी कोई हैसियत नहीं। शरीफ आदमियों का काम क्यों नहीं करते?"

"बताइये कोई शरीफ काम?"

"फिल्मों में कहानी लिखनेवालों को, सुना है अच्छी तनख्वाह मिलती है। पैसे के पैसे, फिर और जुगत।"

"पर फिल्मवालों का भरोसा ही क्या है?"

"यूं तो भरोसा किस चीज़ का है इस दुनिया में? जिन्दगी का ही भरोसा नहीं। अगर एक कम्पनी में जगह नहीं है तो किसी और में जा घुसो। काम की क्या तंगी है, फिर ऐसे मजे?"

"अगर पैसे आते हैं तो जाते भी तो हैं। फिल्मी काम......"

"भाई, पैसे आने और जाने के लिये ही तो हैं।"

उनकी बेफिक्री को देखकर मैं हँस पड़ा—"लक्ष्मी है, आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये।" मैंने कहा।

"भाई, कुछ भी हो, यह लक्ष्मी पतिव्रता नहीं है। घाट-घाट फिरती है।" कार की गद्दी पकड़कर वह उछल पड़े। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर पूछने लगे, "क्यों भाई, कैसी कही मैंने? अच्छी कही न?"

वह मेरी दाद चाहते थे। मैं चुप रहा। आफिस का अहाता आ गया था।

"अरे भाई, तुम इस कम्पनी में काम करते हो! बेपैंदी का जहाज़ है। सुना है कम्पनी का दिवाला हो गया है।"

मैंने उनका जवाब न दिया। क्या देता? बात सही थी। "आइये, अन्दर आइये, थोड़ी देर बैठिये, मैं टैक्सी के लिये फोन कर दूंगा।"

"हम यहीं बैठेंगे, तुम्हीं कर दो," वह ऐसे कह रहे थे मानो अखबार के दफ़्तर में जाना उनकी शान के खिलाफ हो। धन-दौलत हो या न हो, रईसी के ऐब ज़रूर थे—ढोंग, ढकोसला, खोखली हैसियत, घमंड। वह उतरे नहीं।

मैं आफिस के अन्दर जाने का ही था कि उन्होंने बेअदबी से पुकारा। मुझे गुस्सा आया। यह अच्छी आदत है! एक तो मदद करो, दूसरे ऐसे बुलाये जाओ जैसे कोई वेतन दे रहे हों।

"क्यों, क्या बात है?" मैंने अपने गुस्से को मुसकराहट की तह में छुपाते हुए कहा।

"टेक्सी के लिये फोन न करना। न-जाने यह बटुआ कहाँ गायब है? शायद उस लड़की ने उड़ा लिया है। श्रीमतीजी से कैसे माँगें? सवेरे-सवेरे खामख्वाह का झमेला।"

मैं मुसकराता चुप रहा।

"तो भाई ज़रा राव से कार भिजवाने के लिये फोन करो। के० आर० राव। आठ, छः, शून्य, दो।"

"जैसी तुम्हारी मर्जी।"

इन जमींदारों की आदतें बिगड़ी हुई होती हैं। पास चाहे कौड़ी भी न हो, पर हुक्म ऐसा देंगे जैसे खुदा के पैगंबर हों। शान की फ़िक्र में अदब भूल जाते हैं। एक-दो साल में उनकी आदतें कैसे सुधर सकती हैं? पीढ़ियाँ चाहिये। यह सोचते-सोचते मैंने राव को फोन कर दिया। वह कार भेज रहे थे।

मैंने थोड़ी देर तक अखबार इधर-उधर किया। कोई खास खबर नहीं थी। इतने में किसी कार की आवाज़ आयी। मैं बाहर चला गया। वह पेकार्ड से उतर, राव की कार में बैठकर उनसे बातचीत करने लगे। मेरे जाते ही बत्तीसी खोल दी। मुख से 'शुक्रिया' गल्ती से भी न निकला, जैसे किसी बाप-दादा के ताबेदार ने हुक्म बजा दिया हो।

पेकार्ड पेड़ के नीचे खड़ी थी। रंग उड़ चुका था। पुरानी, चोट खायी हुई। चलती तो जंजीरों से लदी हथिनी की तरह। खटखट करती। नंगी-

सी···ज़मींदारी प्रथा की अवशेष-सी ।

* * *

मैं अपने कमरे में बैठा हुआ था। आज सवेरे-सवेरे उनसे मुलाकात क्या हुई कि सारा काम चौपट हो गया। काम में मन न लगता था। उन्हीं की शक्ल सामने थी। उन्हीं के कारनामे याद में गुदगुदी कर रहे थे।

कहता है, बिजनेस करने लगा है। क्या बिजनेस होगा? जब मुझे पिछली बार मिले थे, इनकी हालत बुरी थी—उस लड़के की तरह जो बेंच पर खड़ा कर दिया गया हो और पेशाब के दबाव से टांगे इधर-उधर रगड़ रहा हो।

रात के करीब दस बजे थे। तब मैं अच्छे जमे हुए अखबार में था। उन्होंने बाहर से मेरे लिये खबर भेजी। मैं घबराया हुआ उनसे मिला।

"ज़रा तुमसे काम है।"

"क्या?"

"यहाँ कहना ठीक नहीं। चलो, होटल चलें।"

उन्होंने मुझे अपनी कार में बिठाया। उनके साथ एक और मोटा व्यक्ति था। पिछली सीट पर दो औरतें थीं। वे लगातार बातें करती जाती थीं। इत्र से कार महक रही थी। वे कौन थीं यह जानने में मुझे देर न लगी। मैं सहमकर आगे देखता जाता था—चिन्तित, परेशान।

ऐसे लोगों को अगर काम पड़ जाय, मैं तो ख़ैर मैं ही ठहरा, मेहतर के भी जूते चाटेंगे। स्वार्थ में इन्हें न अपनी हैसियत का ख्याल रहता है, न अपनी शान का। यह भी नहीं सोचते कि उनकी मदद करने पर दूसरों पर क्या गुज़रेगी? अब फँस गया था, खीभकर रह गया।

होटल भी ऐसा था जो चौबीसों घंटे खुले रहते हैं, जहाँ खाने की चीज़ों के सिवाय और चीज़ों का व्यापार भी होता रहता है। बेंच पर एक मोटा-सा आदमी बैठा था। उसकी बगल में एक फोन था।

"क्या खाइयेगा?"

"मुझे कुछ नहीं खाना है। क्या काम है···?"

"कुछ तो खाओ, चाय ही पियो। काम कोई बड़ा नहीं है······तुम आसानी से कर सकते हो···" मैं घबराता जाता था। अगर कोई ऐसा-वैसा काम सौंप दें तो···? चाय के प्याले आ गये। "कब तक इस तरह रात-दिन काम करते रहोगे ? न पैसा, न नाम। पैसे बनाओ, इस गुलामी से बचो, चार आने का साझा तुम्हारा रहा।"

"आख़िर क्या बात है ? काम तो बताइये।"

"कुछ नहीं, तुम्हारे लिए मामूली बात है। कोई दिक्कत का काम नहीं।"

मैं घबरा रहा था। चुप रहा।

"तुम्हें न्यूयार्क कॉटन मार्केट के बारे में मालूम है न ?"

"वह अख़बार में आता ही है।"

"आ तो जाता है, पर अख़बारवालों को एक घंटे पहले पता लगता है और उस घंटे में बनानेवाले लाखों रुपया बना सकते हैं।"

"सट्टेवालों को पहले ही फोन पर मालूम हो जाता है—उनसे पूछ लीजिये।"

"हमारे इस दोस्त ने," उन्होंने अपने दोस्त की ओर इशारा किया। वह एक बोरी की तरह कुर्सी पर बैठा हुआ था—डरावना चेहरा, चेचक के दाग, लाल आँखें—शराबियों की-सी। ये कहते हैं कि अखबारवालों को पहले पता चलता है। जुगत है, क्यों मौक़ा चूकते हो ?"

"आपका ख्याल गलत है। अगर न्यूयार्क से सीधी तरह तार की सहूलियत हो तो हमें पहले पता चल सकता है। हमें बम्बई से भी सीधी खबरें नहीं आतीं। मैं नहीं समझता कि आपके दोस्त का ख्याल सही है।"

"आपको ख़बर कब मिलती है ?"

"चार बजे के क़रीब। एक बजे तक लोगों की किस्मत बन-बिगड़ जाती है। कई बार चार बजे भी नहीं मिलती। फोन करना पड़ता है। मैं आपकी मदद नहीं कर पाऊँगा।" मुझे इस विषय में कुछ नहीं मालूम, उनसे बचने के लिए कह रहा था।

मुझे याद था कि किसी अख़बारवाले ने यह ख़बर किसी को बेच दी थी। वह बरख़्वास्त कर दिया गया था। अव्वल तो मुझे मालूम नहीं, अगर मालूम भी होता तो मैं अपना पेशा छोड़ने के लिए तैयार न था।

"अच्छा तो भाई, ज़रा इन्हें छोड़ आओ।" उन्होंने अपने दोस्त से कहा—"ख़बर आती ही होगी। मैं यहीं इन्तज़ारी करूँगा। ट्रंककाल कर रखा है।"

कुछ दिनों बाद पता चला कि हज़रत ने कर्ज़े के पच्चीस हज़ार रुपये सट्टे में उड़ा दिये थे।

शायद जिनको पैसे आसानी से मिल जाते हैं, उनको बिना दिक्कत के पैसे कमाने की आदत हो जाती है। सट्टे में खुर्राट भी उजड़ जाते हैं, यह तो रहे नौसिखिये शौकीन, बरबाद हो गये।

उस आदमी के बारे में सोच-सोचकर मुझे हँसी आ रही थी। कितना लालची कितना सुस्त और कितना अय्याश! अब किसी फिल्म में लगा हुआ है, जो बचा-खुचा है, वह भी उड़ जायेगा पर इन लोगों की बरबादी के वावजूद पैसा मिलता कहाँ से है?

* * *

अदालत खचाखच भरी हुई थी। वक़ील काली वर्दी पहने मेज़ के चारों ओर बैठे हुए थे। दर्शक उचक-उचककर देख रहे थे। कई औरतें भी थीं।

गवाह के कटघरे में जमींदार साहब खड़े थे—चिपके हुए बाल, तेल टपकता हुआ। सबकी आँखें इन पर गड़ी हुई थीं और इनकी नज़र छत पर थी।

चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। बेहद घबराये हुए थे। टिककर खड़े नहीं हो पाते थे। कभी दाँये पाँव के बल तो कभी बाँये के बल।

उनका किसी वेश्या से सम्बन्ध था। उससे एक लड़का भी था। यह उसे गुजारा देने से इनकार करते थे। उस वेश्या ने इन पर मुकदमा दायर कर दिया था।

वकील ने पूछा, "आपके पिताजी से सरकार ने जमींदारी क्यों छीन ली थी?"

प्रतिवादी वकील ने कहा कि प्रश्न नाजायज़ है। परन्तु न्यायाधीश के खुद पूछने पर इन्होंने कहा, "क्योंकि वह पागल करार दिये गये थे।"

वकील ने पूछा, "आपको क्या मालूम है कि विलास के कारण उनका दिमाग़ खराब हो गया था ?"

इन्होंने कहा, "नहीं।"

वकील ने एक बूढ़ी औरत दिखाकर पूछा, "मालूम है, यह कौन है ?"

"नहीं।"

"आपके पिता की यह रखैल थी ?"

"मुझे नहीं मालूम।"

वकील ने दो-चार कागज़ात न्यायाधीश के सामने रखे, जिनमें एक इनके पिता की चिट्ठी थी जिसके अनुसार उस औरत को और उसकी लड़की को गुज़ारा मिलता था; और दूसरी चिट्ठी इनकी थी जिसमें इन्होंने भी पैसा देने के लिए वचन दिया था।

एक और महिला को, अट्ठारह-बीस वर्ष की होगी, वकील ने बुलाया, "आप शायद इन्हें भी नहीं जानते हैं ?"

"नहीं।"

वकील ने कुछ काग़ज और पेश किये जिनसे यह साबित होता था कि वह लड़की उनके पिता से उत्पन्न उस बूढ़ी दासी की पुत्री थी।

"शर्म ! शर्म !" दर्शकों की तरफ़ से आवाज़ आयी। जज साहब ने शांति के लिए घण्टी बजायी, धमकी दी। पर दर्शक धीमे-धीमे कानाफूसी करते जाते थे।

"क्या कमीना-बिगड़ा आदमी है ! झूठ पर झूठ ! बेशर्म ! तीस रुपये ही की तो बात है। और पकड़ा भी किसको ? अपने बाप की बेटी को, यानी बहन को। इन ज़मींदारों में इज़्ज़त तो कभी की गयी, अब शरम भी बाकी नहीं रह गई है। पियक्कड़ों की तरह अपनी मस्ती से रहते हैं।"

फिर एक छोटा-सा लड़का, जिसका चेहरा बिलकुल इनके जैसा था—बुलाया गया। वह लड़का इनको देखते ही 'बाबूजी, बाबूजी' कहकर इनके

पास जाने लगा। वकील ने पूछा, "आप शायद इस बच्चे को भी नहीं जानते हैं ?"

इन्होंने एक तरफ़ मुँह कर 'नहीं' कह दिया। दर्शकों की तरफ़ से 'छिः ! छिः !' की आवाज़ आयी।

वकील ने उस लड़की को लिखी इनकी कुछ चिट्ठियाँ न्यायाधीश को दीं। दलीलें दी गयीं। ज़मींदार की आर्थिक स्थिति पर भी बहस हुई।

मामला साफ़ था। न जाने, ये क्यों इस तरह झूठ बोल रहे थे ? आखिर ऐसी बातों पर अदालत तक आने की नौबत ही क्यों आई ?

झूठ बोलने के लिए भी हिम्मत चाहिए। इस बेशर्मी से झूठ बोल गये कि देखनेवालों को बुरा लग गया—"एक तो वाहियात काम करो और फिर बेहया होकर मुकर जाओ, भले ही किसी ग़रीब की जान भाड़ में जाय !"

यह सिर्फ़ तीस रुपये की बात न थी। बाद में पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि मामला ही दूसरा था। यों तो उनके लिए उन दिनों तीस रुपये भी ज़्यादा थे। कर्ज़ पर गुज़ारा हो रहा था। पैसे की तंगी की वजह से पत्नी के हाथ में ये खिलौने हो गये थे। जब तक इनके पास पैसा था तब तक उसकी परवाह भी न की। अब जैसे-जैसे जिम्मेवारियाँ बढ़ती गयीं और आय कम होती गई तो पत्नी का अस्तित्व भी पहचानने लगे। उनकी जायदाद पर ही कर्ज़ मिल रहा था, इनकी अपनी तो ज़ब्त होने को थी। अगर ये बात अदालत में कबूल करते तो घर में कयामत आ जाती ; न करते तो बदनामी ही तो होगी—नाम ही ऐसा कौन-सा था कि बदनामी से घबराते !

अदालत के फ़ैसले के मुताबिक ज़मींदार साहब को बच्चे और माँ को गुज़ारा देने के लिए कहा गया। इन्होंने अपील की। क़ानून का मामला था। कुछ का कुछ साबित किया जा सकता था। गवाही पर ही फ़ैसले का दारमदार था। अपील में ये जीत गये। उस लड़की की तो धज्जी-धज्जी उड़ा दी गयी। दुनिया-भर की बातें पूछी गयीं। यह दिखाया गया कि उसका सम्बन्ध इनके अतिरिक्त किसी और से भी था। इनका अपना ही नौकर, जो इनके पिताजी से किसी दासी का लड़का था, शक्ल-सूरत में इनसे मिलता

था, उसे पैसे दिये गये, सिखाया गया; और उसने कोर्ट में जैसे वकील ने चाहा वैसे बेझिझक गवाही दे दी। उसकी गवाही की वजह से पलड़ा बदल गया। ये मुकदमा जीत गये।

बदनामी तो ख़ैर हुई, पर पत्नी से बनी रही। ये इस तरह घूमते-फिरते, जैसे कुछ हुआ ही न हो। लोग इनकी हँसी-मज़ाक उड़ाते। पर इन्हें कोई परवाह न थी।

उन दिनों इन्होंने एक बड़ी पार्टी भी दी। ये शहर के शानदार क्लब में जहाँ हैसियत और पैसेवाले ही सदस्य हो सकते थे, थोड़े-बहुत विरोध के बाद ले लिये गये। इन्होंने समझा कि मैदान मार लिया। ख़ुशी को त्यौहार की तरह मनाया। पार्टी में हजारों रुपया उड़ा दिया। पाँच-छः दिन तक रंग-रेलियाँ चलती रहीं। इनकी हैसियत बढ़ी, कर्जा भी बढ़ा।

पिता को लोग पागल कहा करते थे और थे भी, इन्हें भी मानने लगे। पुश्तैनी फतवा था, मगर किसी को यह ख्याल न था कि पाँच-छः वर्षों में ही ये पिता के पद-चिह्नों पर इतनी दूर पहुँच जायेंगे।

* * *

मैं बस की प्रतीक्षा कर रहा था। उस रास्ते में बसें कम ही गुजरा करती थीं। धनियों का मोहल्ला था—बड़े-बड़े बँगले, बगीचे। कारवाले वहाँ ज्यादा थे।

छायादार नीम का पेड़ है। वहीं अक्सर लोग बस की इन्तजारी करते हैं। चौराहा-सा है। एक सड़क वहाँ से मुड़ती है और दूसरी वहाँ से कटती भी है।

शाम का वक्त था, कोई पाँच-छः का। आस-पास के घरों में काम करने-वाले छुट्टी पा वहाँ खड़े थे। आपस में बातचीत कर रहे थे—

"मालूम है, वह तीसरे नम्बर का बंगला खाली किया जा रहा है—कार वाले सनकी ज़मींदार का। वही जो टूटी-फूटी पेकार्ड में रात-दिन घूमता रहता था।"

"हूँ, हूँ, क्या हुआ?"

"कारें-वारें सब कुर्क हो गईं—साल भर से किराया मार रखा था। हज़ारों रुपये का कर्ज। दर-दर फिरेंगे अब !"

"अब पता लगेगा आटे-दाल का भाव।" किसी ने इस बीच कहा—"क्या होगा बेचारे का ?"

"यार, रहम खा रहे हो ! कितने ही बच्चोंवालों को इसने खराब किया होगा। भुगत रहे हैं। आख़िर भगवान की नजर से कहाँ भागेंगे ?"

बस आयी। सिवाय मेरे और एक और के सबके-सब चढ़ गये। मैंने चलने की ठानी, पर न-जाने क्या सोचकर खड़ा हो गया। चहलक़दमी करने लगा। थोड़ी देर बाद देखता हूँ कि एक व्यक्ति, बाल चिपकाये हुए, ऐनक लगाये, धोती पहने, ऊपर उत्तरीय भी डाल रखा था, सड़क के बीचोबीच, जैसे उसके लिये कोई कालीन बिछा दी गई हो, चला आ रहा था। चाल में कृत्रिमता थी।

नज़दीक आने पर मालूम हुआ कि ज़मींदार साहब ही पैदल चले आ रहे हैं। मैने सोचा कि उनसे नज़र बचाकर निकल जाऊँ, जैसे मैंने उन्हें देखा ही न हो। जल्दी चलने की कोशिश करने लगा। कुछ भारी शरीर, फिर चलने की आदत भी नहीं। जल्दी चल न पाता था। उन्होंने मुझे पीछे से पुकारा। मैंने चौंकने का अभिनय किया। वह मुझसे आ मिले थे। आते ही कहा—"आज तुम अच्छे मौके पर मिले। मैं तुम्हारे ही यहाँ आनेवाला था।" मुझे साफ मालूम था कि वह साफ झूठ बोल रहे हैं। वह पीठ पर हाथ रखकर घनिष्ठता का ढोंग रचने लगे। मौक़ा पड़ने पर वह ऐसे ही दुम-दबाऊ कुत्ते बन जाते थे कि देखकर हँसी आती थी, और अफ़सोस भी।

"क्यों, क्या बात है ?"

"एक मकान चाहिये—तुम्हारी तरफ नये मकान बन रहे हैं—एक दिलवाने की कोशिश करना।"

"पर आपका तो अपना मकान था—तन्डयारपेट में, क्या हुआ ?"

"मकान क्या था भूतों का अड्डा था—किसी ने बहकाकर बेच दिया था, मुश्किल से बिका—सालों पहले की बात है। बाद में यहीं पासवाले मकान

में रहता था, खाली करना पड़ा। अब एक दोस्त के यहाँ हूँ।"

"खाली क्यों करना पड़ा?"

"बस, पूछो मत। यह मकानवाला ही ऐसा आदमी है। उससे परेशान हैं हम। चैन से रहने भी नहीं देता। हर वक्त किराये के लिये नाक में दम किये रखता है। साल-भर का ही तो किराया देना बाकी है। आसमान उठा रखा है।"

उनकी बातें सुनकर मुझे हँसी आ रही थी। उनकी हालत उस पागल रईस की-सी थी, जिसके सामने उसका मकान जल रहा हो, और जो खुद बिना हाथ-पाँव हिलाये नौकरों को पुकार रहा हो।

"यह सरकार भी क्या है? भला देखिये जमींदारों को तबाह कर किसानों का इन्होंने क्या भला किया? खैर, ले ली तो ले ली, कम-से-कम हरजाना तो दे देते।"

मैं जानता था कि वह अपनी ज़मींदारी सरकार के हाथ में लेने से पहले ही खो चुके थे। चूँकि और ज़मींदार उन दिनों इस तरह की बातें करते थे, वह भी कर रहे थे। जमींदार जो ठहरे—कोई माने या न माने।

"क्यों, आज कारें क्या हुईं, पैदल चल पड़े?"

"यार, फिल्मवालों ने धोखा दे दिया। ये वाहियात लोग हैं। अच्छा पिक्चर बनाया, सुन्दर-सुन्दर नाच, सुहावने गाने। लाखों रुपया खर्च किया पर आधा भी वसूल न हुआ। भारी नुकसान हुआ। फिल्मी लाइन भी सट्टेबाजी है। यूँ तो ज़िन्दगी ही सट्टा है।"

"कारें बेचनी पड़ गईं क्या?"

"क्यों किसी का पैसा मारा जाय? जब तक देह में ताकत और दिल में हिम्मत है किसी का एक पैसा भी बाकी न रखूँगा। सब-कुछ दे दिया है।"

मैंने सुन रखा था कि ज़मींदार साहब ने कसाई, बावर्ची, धोबी और न जाने कितनों का रुपया दबा रखा है। सुनते हैं कि अदालत में दिवालिये घोषित होने के लिए दरख्वास्त भी डाल रखी है।

"हाँ यार, मकान के बारे में याद रखना।"

"अभी कहे देता हूँ—मकान मिलना आसान नहीं है।"

"मौका पड़ने पर·········मतलब···" वह शायद कहना चाहते थे कि सब मतलबिये यार होते हैं, पर गनीमत कि कहा नहीं।

"आप कहाँ जा रहे हैं?" मैंने पूछा।

"बस यहीं नज़दीक—क्लब के कई मेम्बरों से मिलना है।"

"क्लब तो काफ़ी दूर है। बस में चले जाइये।"

"टहलते जायेंगे," उनमें अब भी बुरी तरह पुराना घमंड कहीं अटका था। या तो वह पैदल जा सकते थे, नहीं तो कार में, अकेले। दस आदमियों के साथ नहीं। और शायद उनके साथ हर्गिज नहीं, जिनकी ज़िन्दगी घंटों की गुलामी करते-करते बीतती हो।

"पर यह देसी लिबास कब से? और यह बेग—इंश्योरेन्सवालों का।"

"बीमे की ऐजन्सी ले रखी है। दो-चार दोस्तों ने करवाना है। अब तो तुम भी अच्छे भले हो। कर लो न?"

मैंने सोचा, 'वही बेकारों का पेशा। तकदीर का चक्कर है। कभी ऊपर तो कभी नीचे।'

मोड़ से बस आई, मैंने पकड़ी और चला गया। बस की खिड़की से मैंने देखा कि वह किसी तंग, गन्दी, टेढ़ी-मेढ़ी गली में मुड़ रहे थे।

: ४ :

हीरों की खान

बहुत पहले की बात है—सदियों पुरानी। तब हैदराबाद में आसफ़जाही निजामी न थी। हैदराबाद राज्य की मौजूदा सरहदें भी न थीं। हिन्दुस्तान का दूसरा ही राजनैतिक नक्शा था।

तब दक्खन के इलाके में कोई खास शहर ज्यादा मशहूर न था। दिल्ली में मुसलमानों की सल्तनत थी। सूबे दक्खिन में भी काफ़ी मुसलमान बस गये थे। नवाबों का राज्य था।

ज़माने की यह हालत थी कि जिसकी लाठी उसकी भैंस। ताकतवर नवाब कमज़ोर नवाबों को हड़पने की कोशिश करते। जंग हमेशा कहीं-न-कहीं चलता रहता। लूट-खसौट, डाके-डकैतियाँ रोजाना के वाक़यात थे। अमन और चैन न थी। तलवार की ज्यादा कीमत थी बजाय आदमी की जान के। अजीब और बेदर्द था वह ज़माना।

गोलकुण्डा तब तारीखी शहर न बन पाया था। छोटा-मोटा गाँव था। कोई व्यापार वग़ैरह भी न होता था। काश्तकारों की बस्ती थी, जो खेती-बाड़ी से ज़िन्दगी बसर करते और नवाबों के हमलों को गर्मी, बाढ़-सा समझ-कर किस्मत के सहारे सन्तोष से रहने की कोशिश करते।

नंगी, चढ़ती, चपटी पहाड़ी। पत्थरों की आड़ में घास, झाड़ी वग़ैरह कहीं-कहीं उग जाती थी। गाँव के डंगर वहीं चरा करते। लकड़ी-ईंधन आदि भी वहीं से मिल जाते थे। तराई में गोलकुण्डा का छोटा-सा गाँव था। बाद बड़ा पहाड़। उस पर एक नवाब का क़िला बन रहा था। हज़ारों मज-दूर लगे हुए थे और सालों से काम चल रहा था।

इस किले की दीवारों को उठाने के लिए न-जाने कितने गाँवों को बर-बाद किया गया था। इसके मसाले में न मालूम कितने मजदूरों का खून-पसीना था। सैकड़ों भूखे-प्यासे मौत के मुँह में चले गये थे। गुलामी और बेगारी की हद न थी। और कहा जाता था कि काहत के दिनों में नवाब साहब गरीब बेरोजगारों के लिए किला बनाकर काम-धन्धा दिखा रहे थे।

इस सबके बावजूद, नवाब साहब की तिजोरी खाली हो रही थी और किला पूरे होने के कोई निशान नज़र न आते थे। कुदरती पहाड़ पर एक और पहाड़-सा तैयार हो रहा था, दीवारें भी पर्वत-शृंखला की तरह एक के बाद एक तैयार होती जाती थीं। फिर भी किला अधूरा था और दूसरे नवाबों के हमलों का खतरा हमेशा बना रहता था।

तराई के गाँव का भी पुराना इतिहास है। सुनते हैं कभी वह युद्धक्षेत्र था। शायद इसीलिए वह गर्मियों में मुर्दाघाट-सा, सुनसान लगता था। तालाब के किनारे थोड़ी-बहुत ज्वार-मकई की खेती हो जाती थी। जब बारिश होती तो दूर-दूर तक अरहर के खेत भी लहलहाने लगते थे।

गाँव में सब छोटे-छोटे झोंपड़े थे—पत्थरों की टेढ़ी-मेढ़ी, टूटी-फूटी दीवारें और उन पर फूस की छत। गाँव के बीचोबीच अलबत्ता एक बड़ा मकान था—दुमंजिला, पक्का, बड़े अहातेवाला—उभरा-सा आता था मानो कई झोंपड़े मिलकर एक बड़ा मकान बना पाये हों—या एक अमीर के लिए हज़ारों गरीबों का प्राकार दरकार हो।

मकान कोण्डप्पा रेड्डि को विरासत में मिला था। उसके बाप-दादा उसकी तरह गाँव के मुखिया थे। सैकड़ों एकड़ ज़मीन थी। दसियों निजी नौकर थे। हज़ारों मवेशी। आस-पास के इलाके में उसका खानदान मशहूर था।

उसके पिता की अच्छी धाक थी। हवा का रुख देखकर वह कदम रखते थे। नवाबों के मिजाज को अच्छी तरह परखते थे। कभी दे-दाकर काम चला लेते, तो कभी चुप रहकर ही। उनको मालूम था कि बड़ों की दुश्मनी कमज़ोरों को बरबाद कर देती है। जिस तरफ़ पाँच-दस चल पड़े उसी को

वह रास्ता समझते थे।

कभी उस नवाब से भी उनके अच्छे संबंध थे। उसके दरबार में दो-चार बार हो भी आए थे। पर जब उसने पासवाले पहाड़ पर किला बनाना शुरू किया तब कोण्डप्पा के पिता की त्योरियाँ चढ़ गई। वह न चाहते थे कि उनके गाँव के नज़दीक ही नवाब अपना डेरा डाले। भला नवाब के सामने उनकी क्या हस्ती थी! उस गाँव में जहाँ वह भगवान समझे जाते थे, उनकी हैसियत कम हो गयी। पर वह कुछ न कर पाते थे।

नवाब ने दो-चार बार रुपये के लिए खबर भिजवाई, कोण्डप्पा के पिता ने जैसे-तैसे मीठी-मीठी बातें बना मना कर दिया। पर उनके दिल में नवाब का डर घर कर गया था। लोगों का तो यह भी कहना था कि उनकी मौत भी इसी डर के मारे हो गयी। मरते-मरते वह कोण्डप्पा को नवाब के बारे में चौकन्ना करते गये।

कोण्डप्पा अभी क्वाँरा था। गदह पच्चीसी में था। हट्टा-कट्टा। गर्वीला नौजवान। पिता के गुज़र जाने के दस-ग्यारह दिन बाद, नवाब साहब के यहाँ से दरबार में हाज़िर होने का हुक्म मिला। कोण्डप्पा ने पहले सोचा कि हुक्म न माना जाय। बाद में घर के बड़े-बूढ़ों के कहने से वहाँ जाने को राज़ी हो गया। साथ में उसके चाचा भी गये।

नवाब की आँखें लाल हो रही थीं। दरबारी भी कोण्डप्पा की तरफ़ पैनी नज़रों से देख रहे थे। उसके आगे-पीछे हथियार लिए दो-चार सिपाही थे। बिना किसी के इल्ज़ाम लगाये ही कोण्डप्पा अपने को मुलज़िम समझने लगा। उसका खौलता गुस्सा देखते-देखते कँपानेवाले डर में बदल गया।

"तुम्हें मालूम है, कोण्डप्पा, तुम्हारे गाँव की तरफ़ की किले की दीवार ढह गई है। हमें शक है कि गाँववालों ने तुम्हारे भड़काने पर उसको जान-बूझकर कच्चा बनाया था।"

"नहीं हुज़ूर, मुझे तो नहीं मालूम है। मैंने तो किसी को भी नहीं भड़काया है।"

"पर हमारे पास इस बात का सबूत है कि यह तुम्हारी ही करतूत है।"

"नहीं हुज़ूर, गुस्ताखी माफ़ हो, मुझे कुछ नहीं मालूम।"

"दीवार दुबारा बनानी होगी, इसका खर्च तुम्हें देना होगा, वर्ना··· वर्ना तुम जानते ही हो······समझे!"

"मैं ग़रीब आदमी हूँ, हुज़ूर······"

"हमें मालूम है कि तुम ग़रीब हो या अमीर······"

"जी, जी······"

"इनको हिरासत में डाल दो, इस बीच तहकीकात करो इनकी कितनी ज़मीन-जायदाद है।"

"बच्चा है, नादान है, कुछ नहीं जानता है, हुज़ूर," कोण्डप्पा के चाचा ने अर्ज किया—"गल्ती माफ़ हो। हम दीवार को फिर बना देंगे। पैसा नहीं तो मेहनत तो कर सकते हैं। यह हमारी जिम्मेवारी है। रात-दिन खून-पसीना एक करके हम गाँववाले इस दीवार को पूरा कर देंगे।"

नवाब कुछ चौंके। फिर वज़ीर के इशारे पर कोण्डप्पा के चाचा का कहना मान गये।

अगले दिन पहाड़ का वह हिस्सा दिखाया गया जो गाँव के सबसे अधिक नज़दीक था। वहाँ पहले दीवार न बनी थी, न ढही ही थी। नवाब जो कोण्डप्पा के पिता से पैसे सीधे ढंग से वसूल न कर सका था, इस तरह टेढ़े तरीके से कोण्डप्पा से दीवार बनवा रहा था। उसको अपना किला पूरा करने की फिक्र थी।

गोलकुण्डा के लोग, कोण्डप्पा के समझाने-बुझाने पर, रात-दिन, छः महीने लगातार दीवार बनाते रहे, तब जाकर उनका हिस्सा पूरा हुआ। कोण्डप्पा को अपनी बाप-दादाओं की दौलत को पत्थरों की चिनाई पर खर्च करना पड़ा। दौलत जाये तो जाये, पिता के कहे अनुसार वह बड़ों से दुश्मनी मोल लेकर खुद एकदम तबाह न होना चाहता था।

गाँव के हिस्से का किला पूरा हो गया था, पर अभी किले के पूरा होने में बहुत-कुछ बाकी था। चहारदीवारी भी पूरी न हुई थी। चाचा की बुरी हालत थी। बुढ़ापा था ही, और फिक्र की वजह से वह मौत के नज़दीक

खिंचते-से लगते थे। वह मरने से पहले कोण्डप्पा की शादी कर देना चाहते थे।

चाचा ने बहुत दौड़धूप के बाद किसी नामी जमींदार की लड़की से कोण्डप्पा का ब्याह तय कर दिया। उस घराने से पहले कभी कोण्डप्पा के खानदान के शादी के रिश्ते थे, पर कोण्डप्पा के पिता के समय उनका आना-जाना बन्द-सा हो गया था। उनको शायद कोण्डप्पा के पिता का नवाबों से हेल-मेल जँचता न था। वे किसी हिन्दू राजा से सम्बन्धित थे। यह उनको बाद में ही मालूम हुआ कि हिन्दू राजा हो या मुसलमान नवाब कोण्डप्पा के पिता की और उनकी हैसियत बराबर ही थी। इसलिए शादी के ज़रिये कोण्डप्पा के घराने से सुलह कर लेना चाहते थे।

उनकी पहली पत्नी की इकलौती लड़की थी। उसको माँ की ज़मीन-जायदाद, गहने वगैरह बहुत-कुछ मिला था। शादी बड़ी धूमधाम से हुई। हज़ारों का खर्च। रईसी ठाट-बाट। हज़ारों रुपये के गहने दिये गये। बहुत-सा सोना भी दिया गया। दो पुराने घर फिर सालों बाद मिल रहे थे। सब खुश थे।

कोण्डप्पा अपने नौकर-चाकरों के साथ, पालकी में बैठ अपनी पत्नी के साथ गोलकुण्डा वापस चला आ रहा था। नौकर दहेज का रुपया और सामान वगैरह पालकियों में ढोकर ला रहे थे। उसकी नवविवाहिता पत्नी रुद्रम्मा भी गहनों से लदी हुई थी।

पाँच-छः दिन का पैदल रास्ता था। खुशी मनाते-मनाते, बरात पड़ाव करती-करती चली आ रही थी। कोण्डप्पा को भी कोई फ़िक्र न थी। किले की दीवार पूरी हो चुकी थी, नवाब भी खुश था। कोण्डप्पा शादी की खुमारी में था। कभी-कभी एक-एक पड़ाव पर दो दिन भी ठहर जाते थे।

सातवें दिन गोलकुण्डा के बनते किले के परली तरफ़ पहुँच पाये। साँझ हो गई थी। अँधेरा होने को था। गाँव अभी पूरा चार कोस दूर था। वहीं पेड़ के नीचे तम्बू तान दिये गये। लोग आराम की तैयारी में थे कि किले की तरफ से धूल उठने लगी। लोगों ने समझा कि कोई बवण्डर होगा, तम्बू के खूँटे और ज़ोर से गाड़ दिये और खाने-पीने में मस्त हो गये।

देखते-देखते आँधी बढ़ती गई—और धूल उड़ाते पचास-साठ घुड़सवार यकायक लूट-मार करने लगे। दहेज का सारा सामान छीन लिया। दुल्हिन के गहने भी छीन लिये। उसके चीखने-चिल्लाने पर उसको भी उड़ा ले गये। कुछ ही घड़ियों में जहाँ खुशियाँ मनायी जा रही थीं, वहाँ मातम मनाया जाने लगा। कोण्डप्पा जख़्मी, बेहोश ज़मीन पर लहू-लुहान पड़ा था। कितने ही बेहथियार बराती उसी की तरह घायल थे। घुड़सवारों के भाले-तलवारों के सामने वे न टिक सके।

उन सबका कहना था कि नवाब के सिपाहियों ने ही उनकी वह हालत की थी। उनको नवाब के हुक्म पर लूटा गया था। उसको अब भी पैसे की ज़रूरत थी।

छिटकती, ताना मारती चाँदनी में, वह दर्दनाक दृश्य भूल जाने के लिए बराती आँखें मींचने की कोशिश करते पर दर्द के कारण आँखें डबडबाती खुल जातीं और दूर काली क़िले की अधूरी दीवारें खिलखिलाती अट्टहास करती नज़र आतीं।

*　　　*　　　*

उम्र के साथ कोण्डप्पा का गरम खून ठण्डा पड़ता गया। उसमें बदले की भावना पिता के उपदेश के नीचे छिपी थी…"ताकतवर से दुश्मनी मोल लेना, कमज़ोर के लिए अक्लमन्दी का काम नहीं।"

पहाड़ पर बनता क़िला कोण्डप्पा को हर समय यह याद दिलाता कि वह कमज़ोर है। और वह उस क़िले की परछाईं में ताकतवर भी नहीं बन सकता था। उसमें नैराश्य की भावना जम गयी थी। वह बैरागी-सा हो गया था। धन के प्रति मोह भी जाता रहा।

चाचा की मौत हो गयी थी। उस बड़े मकान में सिवाय उसके और उसकी माँ के कोई न रहता था। बाप-दादाओं की स्मृतियाँ मकान में गूँजती लगती थीं। कोण्डप्पा न कहीं बाहर जा पाता था, न अन्दर ही चैन से रह पाता था।

माँ ने फिर शादी करने के लिए कहा। कोण्डप्पा पाँच-छः साल तक यह

कहता रहा कि वह विवाहित है और पुनर्विवाह नहीं करना चाहता। बात भी ठीक थी। उसकी पत्नी लुटेरों द्वारा उड़ा ली गई थी, मारी न गई थी। सम्भव है, कि कहीं जीवित हो।

कोण्डप्पा सोचता होगा कि विवाह से फ़ायदा भी क्या, अगर चैन से दो-चार घड़ी बात करने का मौक़ा भी न मिले और हमेशा तूफ़ान के डर से ही काँपते रहो।

किसी लँगोटिया यार ने उसे समझाया कि इस तरह घुल-घुलकर मरने से क्या फ़ायदा। आदमी को ज़िन्दगी एक ही बार मिलती है। अपनी-अपनी मर्ज़ी है, रोते-रोते काट दो या हँसते-हँसते। चैन तो यों ही नहीं है। नवाब की अंगारे होती हुई आँखें हमेशा घूरती हुई-सी लगती हैं, विवाहित जीवन के मज़े से भी क्यों चूका जाय।

कोण्डप्पा की समझ में यह बात आयी। पर उसकी दुबारा शादी करने की हिम्मत न हुई। वह लुटेरों का फिर शिकार नहीं होना चाहता था। लुका-छिपा वह गाँव की एक नवयुवती के पास जाने लगा। ग़रीब लड़की थी, उसकी जात की भी न थी।

किसी का प्यार या डाह बहुत दिन छुप नहीं पाते हैं। गाँव में अफ़वाहें फैलने लगीं। माँ को मालूम हुआ। उनको बड़ा धक्का लगा। कुछ कह न पाती थीं। इसी चिन्ता में चारपाई पकड़ ली।

चाँदनी थी। कोण्डप्पा अपने मकान की छत पर बैठा कुछ गुनगुना रहा था। माँ नीचे कमरे में बीमार पड़ी हुई थी। वह एक ही दिशा की ओर एकटक देख रहा था। उसकी प्रेयसी के झोंपड़े से, थोड़ी-थोड़ी रोशनी चिराग-से आ रही थी। खिड़की खुली थी, पर वह नवयुवती नज़र न आ रही थी। दूर किले की दीवारें थीं—वहीं तक उसकी नज़र पहुँचती थी और टकराकर वहीं रह जाती थी।

वह चाँदनी के दिनों में अपनी प्रेयसी को कभी लुका-छुपा मकान की छत से देख लेता था और वह दीख भी जाती थी। आज उसको न पा उसका दिल थम-सा गया। उसको शक हुआ, डर लगा। कहीं वह भी तो

नहीं उड़ा ली गयी ?

भागा-भागा उस झोंपड़ी की तरफ़ गया। नीम के पेड़ के नीचे, लड़कियों के झुंड में, अपनी प्रेयसी को उदास बैठा पा उसकी जान में जान आई। आँखें चार हुईं। पर उन सबके सामने उसकी आगे बढ़ने की हिम्मत न हुई। वहीं थोड़ी देर मटरगश्ती करता रहा, बाद में घर वापस चला।

फाटक के पास पहुँचा था कि उसकी नब्ज़ फिर बन्द-सी हो गयी। नौकर-चाकर बड़े-बड़े थाल लिये बाहर जा रहे थे। अहाते में बीस-पच्चीस गायें खड़ी थीं। दान दी जा रही थीं। पूछा तो मालूम हुआ कि माता जी ही तोहफ़ों के थाल बाहर भिजवा रही हैं। उसका दिल छलाँगें मारने लगा, उसे ऐसा लगा जैसे माँ अपने हाथों से ही उसकी और उसकी प्रेमिका की शादी करने के लिये तैयारियाँ कर रही हों।

कमरे के अन्दर माँ बिस्तरे पर पड़ी हुई थीं। एक ब्राह्मण मन्त्र-पाठ कर रहा था। उनके चारों ओर गहने, जवाहरातों के दो-तीन बड़े-बड़े थाल रखे हुए थे।

"बेटा! तुम वक्त पर आ गये? जो चीज़ मैं बहू को देना चाहती थी अब गाँव में और अपने गरीब रिश्तेदारों के बीच बँटा रही हूँ। मुझे मालूम है तुम क्या सोच रहे हो। मैं चाहती थी कि जिससे तुम्हारा मेल-जोल है उसी को बहू मान लूँ...पर-पर...जाने दो। इसी में तुम्हारा हित है।"

"माता जी, आप आराम कीजिये।"

"इस घर में अब आराम नहीं...जब तक वह किला अधूरा है किसी पैसेवाले को यहाँ आराम नहीं।"

"खैर, उसे जाने दीजिये।"

"बेटा! शायद तुम्हें नहीं मालूम कि हमारे घर को लूटने की तैयारियाँ किले में हो रही हैं, पर उनको यहाँ कुछ मिलेगा नहीं। यकीन न हो तो किरीटम्मा से पूछ लेना—वह किलेदार के यहाँ नौकरानी है..."

"हमें तहस-नहस करके ही छोड़ेंगे।"

"बेटा, पैसा हो या न हो तुम चैन से रहो—मकान पर बैठे-बैठे हम

क़िले का मुकाबला नहीं कर सकते।"

उसी रात कोण्डप्पा की माँ स्वर्गवासिनी हो गयी। तब भी किला अधूरी कब्र की तरह दूर नज़र आता था।

* * *

माँ के गुज़र जाने के बाद कोण्डप्पा की रही-सही हिम्मत भी जाती रही। वह मकान के एक कोने में, अपनी प्रेयसी के साथ, जो उसकी अब रखैल हो गयी थी, पड़ा रहता। जीवन में उसके लिये कोई आकर्षण न था। वह विक्षिप्त-सा रहता। जवानी में ही राम-नाम जपना शुरू कर दिया था।

घर में जो बचा-खुचा था वह उसकी रखैल के हाथ चला गया था। उसका दारिद्रय लगभग खतम हो चुका था। नवप्राप्त सम्पन्नता से उसका सिर फिर गया था। दिन-प्रति-दिन उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगीं।

वह एक दिन दीवार की छाँह में चारपाई पर पड़ा था। उसकी पीठ पीछे बनता क़िला था। उसे क़िला देखना पसन्द न था। शाम का समय। कोण्डप्पा की रखैल अपने गहने घनघनाती उसके पास आयी। बड़े प्यार से बातचीत करने लगी।

"इस तरह कब तक पड़े रहोगे? राम-नाम जपने के लिये तो सारा-का-सारा बुढ़ापा बाकी है—यह देखो क्या चीज़ है?" उसने दो अंगुलियों के बीच में रखकर एक चमकीला पत्थर कोण्डप्पा की आँखों के सामने किया। उसकी आँखें चौंधियाँ गईं—"हमें भी एक ऐसा ला दो न?"

"यह तुम्हें कहाँ से मिला है?"

"यह बंगारम्मा का है। उसको किसी ने दिया है, सुना है खेत में पड़ा हुआ था।"

"क्या करोगी लेकर? यह पत्थर है।"

"होगा पर बहुत अच्छा है।"

"क्या करोगी?"

"तुम मोती तो क्या लाओगे, पत्थर ही ला दो…"

"नहीं…नहीं," अपने को इस तरह सम्हालते हुए कहा जैसे पहले

झूठ बोला हो,"मैं नहीं लाऊँगा, यह हीरा है। मुझे नहीं चाहिये···यह बरबादी की जड़ है—फिर वही डाके।"

"कितने डरपोक हो तुम! मरना सभी को है, पर जब तक जिओ मर्द की तरह जिओ। डरपोक तो मुर्दा होते हैं! यह भी नहीं ला सकते और अपने को गाँव का खानदानी मुखिया समझते हैं। चूड़ियाँ पहन लो तब अच्छा होगा!" वह गुर्राती हुई बिल्ली की तरह वापस चली गयी।

कोण्डप्पा का सिर चकरा रहा था। उसको कुछ सूझता न था। ऐसा लगता था जैसे निराशा में उसकी राम-भक्ति प्रबलतर हो रही हो।

दो-तीन सप्ताह बाद, पहाड़ के नीचे अपने खेत में राम-मन्दिर बनवाने के लिये वह नींव खुदवाने लगा। खुद भी काम करता। मज़दूर वग़ैरह जा चुके थे, वह अब भी मेढ़ पर बैठा था। उसके सामने गढ़ में सूर्यास्त की ढलती किरणें पड़ रही थीं। उसमें एक छोटा पत्थर चमक रहा था। वह उत्सुकता से उठा और मिट्टी खोदने लगा। उसको ठीक दो-चार पत्थर वैसे ही मिले जैसे उसकी प्रेयसी ने दिखाये थे।

वह अचम्भे में पड़ पया। वह धन लेकर आफ़त मोल लेना नहीं चाहता था। वह नहीं चाहता था कि हीरों की यह खान नवाब के हाथ लगे। वह खुदी-खुदाई नींव को फिर एक सिरे से भरने लगा। भरता जाता था, फिर यकायक उसके हाथ ढीले पड़ गये। वह सोचने लगा उसको भगवान की दी हुई चीज़ को छुपाने का क्या हक़ है? राम-मन्दिर की खुदी-खुदाई नींव को भरना कहाँ तक धर्म है?

वह सिर हाथ में ले बैठ गया। उसके दिमाग में ये शब्द चक्कर काट रहे थे—"मरना सभी को है, पर जब तक जिओ तब तक मर्दों की तरह जिओ," "ताकतवर से दुश्मनी मोल लेना नादानी है।" पर वह अपने से पूछ रहा था—औरतों की तरह अत्याचार सह लेने में भी कौन-सी अक्लमन्दी है? अगर मैं अकेला कमज़ोर हूँ तो सैकड़ों कमज़ोर मिलकर ताकतवर भी बन सकते हैं। वह सोच रहा था।

वह उठा, अपने साथियों को इकट्ठा किया। गाँव के लगभग सभी

लोग उसके साथ थे। अन्धेरा बढ़ता जाता था। लाठी, हँसिया, हथोड़े लिये वे चलते जाते थे। किले की अधूरी दीवारें उनको ललकारती-सी लगती थीं। वे विजय-पथ पर जा रहे थे, क्योंकि वीर मृत्यु में भी विजय पाता है।

* * *

सवेरे नवाब साहब उन वीरों के शव जिनकी मृत्यु किले में हो गयी थी, ऐसी खुशी से देख रहे थे, जैसे कोई नुमायश हो।

कोण्डप्पा भी उसके सामने वीर की तरह कराह रहा था। उसके हाथ-पैर कट चुके थे। जीवन की अन्तिम घड़ी कहीं उसके शरीर में आह भर रही थी। नवाब को देखते ही वह भर्राते-भर्राते कह उठा, "दुनिया की चाहे सारी दौलत इकट्ठी कर लो, यह तुम्हारा किला या तो अधूरा रहेगा, नहीं तो सुनसान, वीरान………" कहते-कहते उसकी अन्तिम सांस निकल गयी।

नवाब को गोलकुण्डा की हीरे की खान मिली…अमित धन राशि मिली, पर किला सुनसान रहा। किले के खण्डहरों में चमगादड़ तक जाने में हिचकते हैं।

५

उन्मत्त

एक ही बत्ती जलती है---शायद भूतों को रास्ता दिखाने के लिए, अन्धेरा लगभग वैसा-का-वैसा ही बना रहता है। हवा भी वहाँ सिसक-सिसककर आहें भरती है। रात और भयंकर हो जाती है।

दुमंजिला बड़ा मकान सुनसान खंडहर-सा है। उसमें सभी चीजें मौजूद हैं---कुर्सी, मेज़, शीशे, पुस्तकें, कपड़े, बर्तन, ठीक वैसे ही जैसे कि मकान वाला उन्हें छोड़ गया था। किसी वैभव की कब्र-सी है जिस पर सिर्फ एक ही बत्ती जलती है, शायद किसी की याद में।

मकान के चारों ओर उजड़ा बाग है, फिर ताड़ के पेड़ों का प्राकार-सा है। करीब आधा मील दूरी पर सड़क है। नज़दीक कोई मकान नहीं, बस्ती नहीं, ताड़ों के परे तीन ओर खड्ड हैं जो बरसात में भर जाते हैं। एक तरफ सूखा नाला है, उस पर टूटा-फूटा पुल। खड्ड के बाद---पाँच-छः फर्लांग के फासले पर एक छोटा-सा---पाँच-दस झोंपड़ियोंवाला मरता-जीता गाँव है।

बत्ती जलती है---टिमटिमाती है, बहुत प्रकाश नहीं करती। वह किसी कहानी की लुप्त होती हुई, जलती-बुझती लौ है। एक उत्तर है जो प्रश्न का संकेत कर अन्धेरे में मिल जाती है।

एक व्यक्ति नियमपूर्वक बत्ती जलाकर चला जाता है, बत्ती जले या बुझे यह उसकी जिम्मेवारी नहीं है। वह अक्सर बुझ जाती है। दरवाज़ों पर ताले लगे रहते हैं। दिन में चौकीदार कभी-कभी चक्कर लगा जाता है और रात में……बस भगवान जाने।

पशु-पक्षियों को भी, लगता है वहाँ की घास-पत्तियों से परहेज है। गड-

रिये भी दूर रहते हैं। आने-जानेवाले एक बार आँखें फाड़कर देखते हैं, फिर भयभीत-से अपने-अपने रास्ते पर चले जाते हैं। वीरान जगह है।

गाँववालों में मकान के बारे में डर है। कई अफवाहें उड़ी हुई हैं। उस घटना को घटे वर्षों हो गए हैं—पर अब भी उसकी बाबत लोग इस तरह बातें करते हैं जैसे कल ही आँखों देखी हो।

जो आज मकान का चौकीदार है वह कभी इस मकान में पुराना निजी नौकर था। उम्र कोई ५०-५५ की होगी, बेंत की तरह झुक गया है। हर शाम को वह आदत के अनुसार बत्ती जला आता है।

एक दिन बातों-बातों में वह कहने लगा—

* * *

"पँद्रह साल की बात है, तब यह मकान बना था। मालिक सरकार के बड़े अधिकारी थे, अच्छी-खासी तनख्वाह पाते थे। आन्ध्र के रहनेवाले थे।

"उन दिनों आबादी के साथ-साथ शहर बढ़ रह था। उन्होंने पाँच-दस दोस्तों से सलाह-मशवरा करके ज़मीन खरीदी। अधिकारी तो थे ही; तंगी के दिनों में भी उन्हें हर चीज मिल गई। देखते-देखते आलीशान मकान पूरा हो गया।

"तभी उनकी शादी हुई थी······शादी तो क्या?" फिर उसने सोच-विचारकर कहा, "अच्छा, शादी ही कहिये।"

"क्यों, क्या ठीक ढंग से शादी नहीं हुई थी?" मैंने पूछा।

"नहीं, ऐसी बात नहीं, पर फिर भी···आखिर शादी के दो ही तो तरीके होते हैं—समाज द्वारा स्वीकृत और अस्वीकृत।"

मैं कुछ कहना चाहता था कि थोड़ी देर रुक वह कहने लगा—"पर दोनों शादियों का तअल्लुक भाई-बिरादरी से ही तो है, शायद शादी करने-वालों से नहीं। आदमी और औरत जब साथ रहते हैं तो समझ लो शादी हो गई—" उसे मुस्कराहट आयी और होंठों को थोड़ा हिला गायब हो गई।

"मामला इतना सीधा नहीं है, चौकीदार! खैर, जाने दो—हाँ, तो उनकी शादी स्वीकृत ढंग से हुई······"

"अस्वीकृत ढंग से ही कहना चाहिए, पर इसका मतलब कुछ है नहीं।"

"क्यों ?"

"उनमें मुहब्बत थी। दोनों एक दूसरे को खूब चाहते थे······दुनिया से अलग हो अपनी एक दुनिया बसा लेना चाहते थे, जिसमें न कोई उंगली दिखानेवाला हो न कानाफूसी करनेवाला। उन्होंने अपनी दुनिया यहाँ बसाने की कोशिश की······इसी सुनसान इमारत में कभी खुशी फूली-फूली फिरती थी। गुलछर्रे उड़ते थे। मेरा मतलब दावत वगैरह से नहीं है। साहब किसी को नहीं बुलाते थे। वह अपनी मस्ती में रहते। पत्नी के नशे में थे। औरत का नशा कुछ ऐसा है जो अकेलेपन में ही चढ़ता है।

"तीन-चार नौकर थे। बढ़िया खाना बनता था। पैसा था। वे सब मजे थे जो पैसे से खरीदे जा सकते थे। मालकिन भी अच्छी दिल की थीं। उनसे किसी को कोई शिकायत न थी। माँ थी। न जाने वह कैसे उनके······"

"चँगुल में फँसी!" मैंने कहा, बिना यह जाने किस्सा समझ में नहीं आ रहा था।

"वह ही तो मैं सोच रहा हूँ, पर बताऊँ कैसे? और बताने से फ़ायदा भी क्या? जानने को तो सारा गाँव जानता है·· गलत या सही।"

चौकीदार कुछ सोचता-सोचता थोड़ी देर तक चुप रहा। वह दूर देखता जैसे किसी की इजाजत माँग रहा हो। फिर झटके से कहने लगा—

"तब वह मलाबार में थे। जगह का नाम पूछना बेकार है। तभी-तभी सरकार में लगे थे। माँ-बाप की मेहरबानी समझिये कि सरकार से इन्हें अच्छी तनख्वाह मिलती थी। एक बँगला भी था। मालिक के पिता राय-साहब थे, रईस थे। उन्होंने ही मुझे इनके साथ भेज दिया था।

"उम्र छोटी थी—कोई तीस साल की। एक बार शादी भी हो चुकी थी। उनकी पत्नी उनके साथ न रहती थी। शायद कुछ मनमुटाव हो गया था। वह अपने मायके में ही रहती थी।

"आप जानते ही हैं, चढ़ती जवानी तूफ़ानी होती है, न आगे जानती है न पीछे, तिस पर सरकारी नौकर, मद्रास से दूर किसी क़स्बे में। न कोई

कहनेवाला, न सुननेवाला। अफ़वाहें उड़ीं——कुछ सच्ची, कुछ झूठी। इतना ज़रूर था कि वह अपनी जवानी गँवा नहीं रहे थे। शराब भी पीते थे।

"पर यह न समझिये कि धर्म में उनकी श्रद्धा न थी। हर शुक्रवार को मन्दिर जाकर पूजा करते थे। ऐसा लगता था जैसे उन्हें कोई चीज़ जला रही हो और वह पानी की खोज में हों।

"एक दिन शुक्रवार को हम किसी छोटे-से क़स्बे में दौरे पर थे। काम-काज करके वह आराम से कुर्सी पर बैठ शराब पीते-पीते अख़बार पढ़ रहे थे। अकेले थे।

"वह डाक-बंगला अब भी मेरी आँखों के सामने है। दो-तीन कमरोंवाला खपरैल का मकान, चौड़ा बरामदा, खम्भोंवाला। बड़ा अहाता, बड़े-बड़े बरग़द के पेड़, उन पर लटके चीं-चीं करते चमगादड़।

"सड़क के पार छोटा-सा बाग़ था और उसमें एक मन्दिर था——पास ही पेड़ों के झुरमुट में एक छोटा-सा पुराना मकान। बाग़ का फाटक बंगले के दरवाज़े से दीखता था। फाटक के खम्भों पर लाल फूलोंवाली बेलें लिपटी हुई थीं। लाल कंकर का रास्ता। छिपते सूरज की शाम की लाली। हरि-याली पर सभी जगह लाली खिल रही थी।

"मैं बगल में बैठा था। वह कभी सिगरेट मँगाते तो कभी सोडा। अख़-बार पढ़ते जाते थे और अपने आपमें बोलते जाते थे जैसे सम्पादक उनके सामने खड़ा हो। गालियाँ सुनाते, अनाप-शनाप बकते। नशा चढ़ता जाता था।

"अखबार खतम कर सिगरेट का धुआँ निगलते हुए इधर-उधर नज़र दौड़ायी। मैं भी उन्हीं के साथ-साथ देख रहा था। सड़क के पार, फाटक से सटी कोई युवती खड़ी थी——बाल बिखेरे——तभी शायद नहाकर आयी थी, लाल फूल सिर पर बँधे हुए थे। सफ़ेद कपड़े, उभरती जवानी चमक-धमक रही थी।

"वह उनकी नज़र में आ गई। शराब का एक और घूँट पी लिया। फिर फाटक की तरफ देखा, खड़े होकर एकटक देखते रहे——हाथ में शराब का

गिलास लिए—मस्त, तन्मय, मदहोश !

"वह युवती इनको खड़ा देख इठलाती हुई अन्दर चली गई। सफेद साड़ी, काले बादल-से बाल, उन पर अंगारे-से फूल, वह कुछ देर तक देखते-देखते खड़े रहे—युवती के आँखों से ओझल होने तक। फिर बोतल से शराब ले निगलने लगे—न सोडा, न पानी, आँखें आग-सी हो रही थीं।

"कुछ देर कुर्सी पर बैठते, फिर खम्भे के सहारे खड़े हो फाटक की तरफ देखते। बेचैन थे। अँधेरा हो चला था। मन्दिर के कलशों से चमक जा चुकी थी। वह स्त्री मकान में चली गई थी।

"अखबार कुर्सी पर मारते हुए उन्होंने पूछा—'क्यों बे, आज क्या वार है ?'

"मैंने कहा—'शुक्रवार।'

"पूजा के लिए क्यों नहीं याद दिलाया ?'

"उन्होंने वाकई सवेरे पूजा कर ली थी। मैं मतलब समझ गया। वह सड़क के पार, बागवाले मन्दिर में पूजा के बहाने उस युवती को देखने जाना चाहते थे। इसलिए मैंने उनसे कहा—'हाँ साहब, अभी साँझ की पूजा बाकी है।'

"हम सामनेवाले मन्दिर में जायेंगे।' कहना ही था कि सिगरेट फेंक, कुर्ता उतार, झट मन्दिर की ओर हिलते-डुलते, मतवाले की चाल से चल दिए।

"जहाँ शमा वहीं परवाना !' मैंने हँसते-हँसते कहा।

"ज्यों वह मन्दिर के पास पहुँचे, बगलवाले मकान में दरवाजे के पास उनको वह युवती खड़ी नजर आई। नजर कहीं थी, मस्ती में सीढ़ी पर चढ़ रहे थे। ठोकर लगी और औंधे मुँह गिरे। माथे से खून बहने लगा।

"दरवाजे के भीतर भगवान थे, बत्तियों की पहरेदारी में, लाल-लाल सिन्दूर लगाये। सीढ़ियों पर खून बह रहा था। वह सम्भलकर उठे, फिर खम्भे से जा टकराये। भगवान को पूजा के पदार्थ नहीं चाहियें, न संस्कार। परन्तु चाहिये पूजा का पवित्र श्रद्धामय भाव। खून बहता जाता था, लुढ़क-

कर नीचे गिर गये, बेहोश।

"मकानवालों ने उनकी सेवा-सुश्रूषा की। ब्राह्मण परिवार था--सभ्य, पढ़ा-लिखा। हालांकि वे शूद्र थे, उनकी भाषा भी न जानते थ, उनकी हर तरह की सेवा की। वह युवती भी उनकी देखभाल कर रही थी।

"उस घर में दो ही स्त्रियाँ थीं--वह युवती और उसकी सौतेली माँ। बारह बजे के करीब उन्हें होश आया। सौतेली माँ चटाई पर ऊँघ रही थी और वह युवती, बड़ी-बड़ी आँखों से, उत्सुक, उद्विग्न, भ्रान्त उनकी तरफ देख रही थी और वह उसकी तरफ। मैं सिरहाने खड़ा दोनों को निहार रहा था।

"उन्होंने ज़ोर से पुकारा--'क्यों रामय्या, पूजा हो गई न ?'

"मैंने कहना चाहा—'आपकी ?' पर हिम्मत न हुई। वह युवती अब भी इनकी तरफ़ देख रही थी। आँखों की एकाग्रता में एक अजीब आकर्षण था, मतवालापन, विवशता......क्या कहूँ ?

"'हम कहाँ हैं ?' मालिक ने पूछा।

"मन्दिरवाले मकान में।'

"फाटक खुला है कि नहीं। वह हैं क्या ?'

"बँगले में चलिए', मैंने कहा। उन्होंने यह सुन अनसुना कर दिया। फिर आँखें बन्द कर लीं। सो रहे, रात वहीं कटी।

"सवेरे के अन्धेरे में बंगले को वापस चले आये। अगले दिन यद्यपि उन्हें हेड-क्वार्टर्स वापस जाना था, वहीं रहे। किसी से मिले नहीं। खिड़की से फाटक की तरफ़, फाटक से दूर मकान की ओर देखते। मन्दिर के दरवाज़े बन्द थे, मकान के भी। शराब पीते-पीते, खुली खिड़की से देखते-देखते इन्तज़ारी में लगभग उन्होंने सारा दिन काटा।

"शाम को पूजा करने फिर वहाँ जा पहुँचे। पुजारी मकान में था। फूल चुनने के बहाने वह बाग में घूमने लगे। मुझे फाटक पर ही छोड़ दिया। वह युवती भी वहीं घूम रही थी, वैसे ही बाल बिखेरे, सफेद साड़ी पहने, छाती ताने। मालिक झाड़ी को चीरते हुए उनकी तरफ़ बढ़े, और वह इन्हें देख, आँखें लड़ाते-लड़ाते कुएँ के नज़दीक चली गई। इतने में घर से किसी ने

उन्हें आवाज़ दी। वह चली गई, और ये कुएँ पर हाथ-पैर धोने लगे जैसे पूजा के लिए तैयार हो रहे हों।

"इस तरह दूसरी बार उनका आमना-सामना हुआ। उन्हें उन्माद चढ़ चुका था। शनिवार गया, आदिवार आया। तब भी वह उसी कस्बे में थे। सवेरे-सवेरे पूजा करने चले। मैं भी पीछे-पीछे हो लिया। फाटक पर पुजारी मिल गया। उस युवती के पिता ही पुजारी थे। उन्होंने पूजा कर दी, लड़की से मिलने का मौका न मिला।

"शाम को एक चिट्ठी के साथ हाथीदाँत का शृंगारदान देने के लिए मुझे भेजा। चिट्ठी पढ़कर पुजारी तो बल्लियों उछल गया। उन्होंने लिखा था, 'आपकी सेवा-सुश्रूषा के लिए एक तुच्छ भेंट।'

"सरकारी नौकर से ऐसी चिट्ठी मिलना उनके जीवन में रोज़ की घटना नहीं थी। शाम को मय परिवार के, जब हम जाने को थे, बँगले में चले आये। वह युवती भी आयी। उनके चेहरे पर कुछ उदासी थी। दोनों ने एक दूसरे को देखा। युवती झेंप गई। वह देखते रहे, मानो आँखों से ही उन्हें निगल रहे हों। यह तीसरी मुलाक़ात थी।

"उसके बाद तो हर शुक्रवार को किसी-न-किसी बहाने वह उस कस्बे में आ जाते और इतवार की शाम तक वहाँ रहते। पूजा के बहाने उस युवती से मेल-मिलाप होता। देखने में वह थे ही खूबसूरत, फिर सरकारी नौकर। युवती के परिवार ने इसे लगभग न देखा कर दिया। उसके पिता को न देख-कर वह वहाँ चले जाते, लुके-छिपे बातें करते।

"हर हफ़्ते की मेल-जोल थी, घनिष्ठता बढ़ती गई। वह तो मतवाले थे—मस्त थे। मस्ती फैलती है—एक को हुई कि दूसरे को भी हो जाती है। वह भी शायद मतवाली थी। थोड़े दिनों बाद घरवालों का भी डर जाता रहा। खुल्लम-खुल्ला ही मिलने लगे। कस्बे में अफवाहें उड़ीं। किसी ने युवती को दुत्कारा तो किसी ने इनको। क्या कहते? युवती कस्बा छोड़ कर जा नहीं सकती थी। जाती भी भला क्यों? कोई जबर्दस्ती तो थी नहीं। दोनों ही एक दूसरे को चाहते थे।

"हमारे कानों तक भी कुछ बातें आयीं। वह भी शायद जानते थे। पर उनका जानना और न जानना बराबर था। पागल हो रहे थे। अगर वह किसी की ब्याही हुई पत्नी होती तो भी वह छोड़नेवाले न थे। किसी ने यह भी बताया कि उसकी शादी किसी नम्बूदरी से निश्चित हो चुकी है।

"धीरे-धीरे उनका प्रेम काफ़ी बढ़ गया। भागने की शायद तैयारी में थे। मालिक ने अपनी तबदीली के लिये कोशिश की, पिता जी की मदद से पा भी ली।

"एक दिन शाम को उस युवती के घर गये। उसके पिता चबूतरे पर बैठे साँप की तरह फुफकार रहे थे और उनकी लड़की मुख नीचा किये हुए मूर्ति-सी उनके सामने खड़ी थी। दोनों में कुछ झपट-सी हो गई थी। वह गुस्से में तो थे ही। इन्हें देखकर व्यंग्य से कहा—'पूजा के बहाने आये और घर का सत्यानाश कर दिया।'

"इतने में युवती की सौतेली माँ ने किवाड़ के पीछे से कहा, 'इनका क्या कसूर? सत्यानाश तो इस लौंडी ने किया है।'

"युवती चुप रही। हम भौंचक्के हो खड़े रहे। सौतेली माँ कहती जाती थी, 'क्या गाय है कि जब चाहा खूँटी से बाँध दी? हिरणी की तरह पली है, हिरणी की तरह भागेगी। गनीमत है और कोई लड़की नहीं है, नहीं तो उसकी शादी करनी मुश्किल हो जाती। तुम्हारा क्या जाता है? जाने दो, अपने किये को भोगेगी।'

"पिता-पुत्री चुप रहे। हमारा ठहरना वहाँ मुनासिब न था। परन्तु झट सौतेली माँ ने इनसे पूछा, 'जो हुआ सो हुआ। ज़िद और मुहब्बत दोनों ही अन्धी होती हैं। आप इससे शादी क्यों नहीं कर लेते? मामला खतम हो।'

"युवती इनकी तरफ एकटक देखने लगी—भीगी-भीगी आँखों से—दयनीय शकल बनाये।

"इन्होंने कहा, 'मुझे कोई एतराज नहीं—पर यहाँ नहीं।'

"सौतेली माँ ने फिर पैतरा बदला—'बदनामी तो तब भी होगी। क्या

किया जाय ? इस लड़की ने हमारा सत्यानाश कर दिया ।'

"पिता कुछ सोचते-सोचते रह गये । कुछ कह न पाये । शायद उन्हें भी इनकी स्वीकृति की उम्मीद न थी । हक्के-बक्के खड़े थे । युवती के चेहरे पर तो वसन्त आ गया । इनकी तरफ ही झुकी आँखों से देखती रही । सब चुप थे । हम चले आये ।

"उसी दिन रात को लगभग दस बजे वह भी हमारे साथ चली आयी । मद्रास तक हम लोग कार में ही आये । ऐसा लगता था कि दोनों एक दूसरे के लिये ही पैदा हुए हों । सुना है, बाद में कुछ कागजातों पर दस्तखत हुए और शादी कानूनी बना दी गयी । वह युवती ही हमारी मालकिन बनी । तब यह मकान बना ।"

इतने में चौकीदार को कोई भोजन के लिये बुला ले गया ।

* * *

एक दिन टहलता-टहलता मैं उधर पहुँच गया । न जाने क्या सूझा कि मकान देखने की ठानी । चार बजे होंगे । एक और आदमी को साथ ले, डरते-डरते बंगले के अहाते के अन्दर गये ।

बड़ा खुला बरामदा था । दरवाज़ों के शीशों से अन्दर की साज-सजा-वट दिखाई देती थी । कीमती लाल कालीनें बिछी हुई थीं । सोफ़ा-कुर्सियाँ वगैरह थीं । एक ओर खूबसूरत अलमारियाँ, उनमें तरह-तरह के खिलौने सजाकर रखे हुए थे । एक और अलमारी में मोटी-मोटी किताबें रखी हुई थीं । दीवारों पर कुछ तस्वीरें टँगी हुई थीं ।

नहीं मालूम वहाँ लोग आने में क्यों घबराते थे । निस्तब्धता ज़रूर ऐसी थी जिससे लगता था कि कोई जबरदस्ती नकाब पहना रहा हो । यह भी हो सकता है कि चार बजे बहादुर बन जाना एक बात है और अन्धेरे के बाद शायद कुछ और । मैं घूमता-फिरता गाँव की ओर जा ही रहा था कि रामय्या चौकीदार मिल गया । एक हाथ में लट्ठी थी, और दूसरे में तेल की शीशी । लपका-लपका जा रहा था ।

"कहाँ जा रहे हो?" मैंने पूछा ।

"वत्ती जलाने।"

"अन्धेरा तो होने देते।"

"जब अन्धेरा हो जायेगा तब मेरी जाने की हिम्मत न होगी। सूरज छिपते-छिपते रोज़ बत्ती जला आता हूँ। वहाँ मुझसे रहा भी नहीं जाता। ऐसा लगता है कोई चीख रहा हो—नोच-नोचकर कह रहा हो—'मर्द की जात ही बुरी है—बेदर्द, बेहया, बेदिल मर्द !"

"खैर, जल्दी जला आओ बत्ती। मैं गाँव में तुम्हारा इन्तज़ार करूँगा।"

एक पेड़ के नीचे पत्थर पर बैठ गया। डण्डे से इधर-उधर के पत्थरों को ठोक-पीट करने लगा। अन्धेरा हो गया था। उस मकान की बुझती-जलती बत्ती दिखाई देती था।

रामय्या भी वापस आ गया था।

मैंने पूछा, "तुम रोज इतनी तकलीफ़ करके जाते हो, बत्ती जलाते हो, क्यों जलाते हो ?"

"इसलिये कि मुझे ऐसा लगता है कि वह अब भी जिन्दा हैं—नौ महीने की पक्की गर्भिणी, इधर-उधर कमरों में फिर रही हों—हँसती-हँसती, बाल बिखेरे, सफ़ेद साड़ी पहने। और जब तक उस घर में कोई जिन्दा है बत्तियाँ जलानी ही पड़ेंगी, जलनी ही चाहियें।"

"मकान तो अच्छा बड़ा है, क्यों नहीं बेच-बाच देते ?"

"कौन खरीदे ? और कौन बेचे ?"

"क्यों, मकान-मालिक क्या हुए ?"

"किया भुगत रहे हैं, सुना है कोढ़ हो गया है। नौकरी तो कभी की छूट चुकी।"

"क्या किया था उन्होंने ?"

"उलझा हुआ किस्सा है।"

"फिर भी······"

"वह तीन-चार साल यहाँ रहे भी। उनको···"

"तुम्हारी मालकिन का नाम क्या था ?"

"नाम लेना ठीक नहीं। बाबू जी 'पद्मा' कहा करते थे। उनको दो-तीन साल तक गर्भ न हुआ। दोनों मज़े में रहते। मालकिन की अपने माँ-बाप से भी बन गई थी। एक बार उनके पिता आये और यहाँ दस-एक दिन ठहरे भी। वह खुश थे।"

मैंने कहा—"दिन-रात मज़े उड़ाते थे।"

"पर भगवान की कुछ और मर्ज़ी थी। उनके किसी नज़दीक के रिश्तेदार की शादी थी। वह मलाबार चली गयीं। दस-पन्द्रह दिन तक वहीं रहीं।

"विवाह वगैरह तो एक परिवार में होते ही रहते हैं—कोई नयी बात न थी। पर बाबू जी ही जानें कि उन्होंने कैसे वे पंद्रह दिन काटे। दिन-रात भूले-भूले फिरते थे।

"वह आ गई। दुनिया पहले की तरह चलने लगी। एक-डेढ़ महीने के बाद पता लगा कि उन्हें गर्भ रह गया है। बाबू जी तो फूले नहीं समाते थे। दफ़्तर से पाँच बजने से पहले ही चले आते थे। तरह-तरह के फल-पकवान लाते। टॉनिक पिलवाते। जैसे-जैसे महीने गुजरते गये, गुड़िया-खिलौने भी आने लगे।"

"अब भी अलमारियों में रखे हुए हैं ?"

"हाँ, प्रतीक्षा में एक-एक महीना पूरा साल लगता था। रायसाहब तक गुज़र चुके थे। होनेवाली सन्तान के नाम के बारे में भी अक्सर बहस होती। आख़िर यह तय हुआ कि अगर लड़का हुआ तो रायसाहब का नाम, और लड़की हुई तो मालकिन की माँ का नाम।

"आठवाँ महीना होगा, मालकिन के पिता गुज़र गये। उन्हें फिर मलाबार जाना पड़ा। मालिक को छुट्टी नहीं मिली। वह अकेली ही चली गई। करीब दस दिन तक रहीं।

"इस बीच में मालिक को किसी ने एक चिट्ठी लिखी। चिट्ठी ऐसी थी कि मालिक को यकीन नहीं करना चाहिये था पर उन्होंने यकीन कर लिया, क्यों किया यह वह ही जानें।

"चिट्ठी में लिखा था—'क्या उन्हें विश्वास है कि उनकी पत्नी का गर्भ उन्हीं के द्वारा हुआ या उस नम्बूदरी द्वारा जिससे पहले उनका विवाह निश्चित हुआ था। जब वह पिछली बार आयी थी उस नम्बूदरी के घर गयी थी...'

"यह बात ज़रूर थी कि नौ महीने पहले वह घर गयी थीं और उसके बाद ही उन्हें गर्भ हुआ था। मालिक का यकीन पक्का हो गया।

"उन्हें सदमा-सा पहुँचा। छोड़ी हुई शराब फिर पीने लगे। घर में बजारू लड़कियाँ भी आने लगीं। वह यह भी जानने की कोशिश न करते थे कि आखिर चिट्ठी लिखनेवाला सचमुच कौन है। बात सच है या झूठ। वह अपनी स्त्री पर अन्याय करने पर तुले हुए थे।

"हाँ, एक और घटना घटी। जब मालकिन मलाबार में थीं, मालिक की पहली पत्नी अपनी माँ के साथ दूसरी मंजिल में रहने लगी। मालिक उनसे बातचीत न करते थे, पर उन्हें जाने के लिये भी नहीं कह सकते थे। दहेज का मामला, जिसको लेकर मनमुटाव हुआ था मालिक को बताया गया कि पिताजी से पटा लिया गया था—अब वह उनको वसीयत के रूप में मिल भी गयी थीं।

"मालिक कुछ कह भी न पाते थे। क्या कहते? अच्छी हो या बुरी ब्याही हुई पत्नी थी। रात को एक-दो बजे नशे में चूर आते। ऑफिस जाना भी लगभग बन्द कर दिया था, किसी चकले में पड़े रहते थे।

"और गज़ब की बात यह कि ये सब घटनायें बीस-एक दिन में ही गुज़र गयीं। जब गुजरनी होती है तो तक़दीर दिनों का हिसाब नहीं करती...... बस गुजर जाती है।"

"क्या हुआ?"

"बीस दिन बाद वह अपनी सौतेली माँ के साथ चली आयीं। दरवाज़े पर ज्यों ही घुसती हैं तो देखती क्या हैं कि मालिक दो लड़कियों को लिये सोफ़े पर शराब के नशे में पड़े हुए हैं। मालकिन पर बिजली-सी गिर गई। देहलीज पर ही जमी-सी खड़ी रहीं।

"मालिक ने इनकी तरफ देखा, चिल्लाकर बोले—

"इन्हें भी ले आये—अनाथालय है ? जाओ यहाँ से, जाओ, जाओ उसी के पास—जाओ !'

"मालकिन सहम गईं। ऊपर चली गईं। वहाँ किसी और को पा, रोती-रोती फिर उनके पास नीचे चली आयीं। वह फिर चिल्लाये—'जा यहाँ से, मुझे शक्ल मत दिखा! ' कहते-कहते उन्होंने मालकिन पर लात जमा दी। वह दूर पासवाले कमरे में गिर पड़ीं। रात को, उस कमरे में, जहाँ अब बत्ती जलती है, उन्होंने एक मरे बच्चे को जन्म दिया—और खुद प्रसव-वेदना के कारण गुजर गयीं।"

कहते-कहते बूढ़े चौकीदार की सिसकियाँ बंध गईं। मेरी नजर सहसा मकान पर पड़ी। टिमटिमाती बत्ती बुझ चुकी थी।

६

भग्न वीणा

वहाँ सीढ़ियोंवाला रास्ता और मोटर की सड़क कुछ दूर तक साथ-साथ जाते हैं। एक तरफ़ छोटे-से पहाड़ की सपाट चोटी है। दूसरी तरफ़ दो-चार पेड़, हरी घास, पत्थर और ऊँचे घने जंगलवाला पहाड़ है। तिरु-पति के मंदिर के लिए जानेवाला रास्ता यहाँ ठीक आधा तय होता है। यात्री थोड़ी देर सुस्ताकर फिर चलते हैं। बसें भी रुकती हैं।

सड़क के किनारे एक खपरैल का मकान है और उसके आसपास झोंप-ड़ियाँ हैं। खपरैल के मकान में चाय की दुकान है, खाने-पीने की चीजें भी मिल जाती हैं। यात्रियों का ताँता बँधा रहता है। वह छोटा-सा गाँव पुराना है, ऐतिहासिक है, पर सदियों से पड़ाव-सा ही रह गया है, बढ़ नहीं पाया है। इसके बारे में भी कई कहानी-किस्से हैं।

खपरैल के मकान के पिछवाड़े में छोटी-छोटी झाड़ियाँ हैं, फिर पत्थरों का ढेर है और उस ढेर से सटा एक टूटा-फूटा झोंपड़ा है। पेड़ के नीचे पानी के कई घड़े रखे हुए हैं। घड़ों के पास एक लंगड़ा बैठा है जो यात्रियों को पानी बाँटता है।

उसके नजदीक ही एक बूढ़ा बैठा रहता है—भारी, सुन्दर शरीर, पीले सफ़ेद बाल, रौबीला चेहरा, खूबसूरत बड़ी-बड़ी आँखें जिनके लिए दिन और रात का भी फ़र्क नहीं है—प्रकृति के सप्त रंग एक ही रंग में समा गये हैं—भयंकर काला रंग। वह अंधा है। होंठ भी एक तरफ़ गिरे हुए हैं। एक हाथ तो बहुत तंदुरुस्त परन्तु दूसरा बेजान रबर का नकली हाथ-सा लगता है। उसे पक्षपात है। उम्र कोई पचास-साठ की है।

उसके सामने एक हारमोनियम है। वह माला लिये कुछ जपता रहता है। हारमोनियम की बगल में एक कपड़ा बिछा है, उस पर पाँच-दस पैसे पड़े हुए हैं। बूढ़ा एक बाँबी की तरह बैठा है—निश्चल, स्थिर, मूर्तिवत्। जब वह चाहता है तो लड़का हारमोनियम पास कर देता है। खुद हवा भर देता, बूढ़ा एक हाथ से बजाने लगता। अंगुलियाँ बड़ी नजाकत से चलतीं—मानो वे ही गा रही हों। एक मधुर संगीत का लय उठता—लहराता समीर-सा। आँखें खुलतीं, बन्द होतीं, राग के अनुसार सिर ऊँचा-नीचा होता, होंठ हिलते, हिलते जाते पर स्वर न निकलता, गले की ध्वनि गले में ही रह जाती।

यात्री एकटक उसकी तरफ़ देखते। पैसे देते, तारीफ़ करते और उसके साथ उनकी उत्सुकता ख़तम हो जाती। पर्वतवासी वेंकटेश्वर स्वामी के दर्शनार्थ चले जाते।

दिन और रात के दौरान में न-जाने कितनी बार इस तरह इस संगीत के लिए—जो कभी उसकी धमनी में बहा होगा, उसके गले से भिन्न-भिन्न रूप में निकला होगा, भीनी-भीनी आवाज़ में, बढ़ते-चढ़ते राग में, वह अपने को निचोड़ देता परन्तु संगीत की एक बूँद भी न निकलती। हृदय में संगीत था, हाथ में संगीत था, बन्द आँखों में भी संगीत था—पर खुले होठों में संगीत का नाम नहीं—अव्यक्त, प्राणहीन, अनियंत्रित ध्वनि थी, आह थी।

झोंपड़ी में एक वीणा भी थी। तार टूटे हुए थे। एक ही तार साबुत और कसा हुआ था। अँधेरा होने पर जब आने-जानेवालों की संख्या कम होती, हाथ-पैर धोकर वह झोंपड़ी के अन्दर बैठ जाता—एकान्त में। वीणा बजाता, एक ही तरह का शब्द होता, होंठ हिलते, सिर हिलता, कभी तेजी से, कभी धीमे से, वह किसी कठिन राग का अभ्यास कर रहा था। उसके सारे शरीर में वह राग गूँजता, रक्त की तरह प्रवाहित होता, पर वीणा से एक ही आवाज निकलती—ठन्, ठन्, ठन्, कर्कश और अनाकर्षक ठन्, ठन्, ठन्!

सुनते हैं, कभी उस झोंपड़ी में दो-तीन संगीत सीखनेवाले भी रहते थे। उन्होंने ही कोशिश करके झोंपड़ी तैयार की थी। कभी-कभी इसकी

पूछताछ करने अब भी चले आते हैं। दिन-रात वे इसकी सेवा करते, संगीत का अभ्यास करते, कभी तो यह कुछ बताता, अपाहिज होने की वजह से बहुत-कुछ बता भी न पाता और अक्सर बताने से इन्कार कर देता। कहा करता था—"मैं गुरु होने का पात्र नहीं, मुझमें किसी को शिष्य बनाने की अर्हता नहीं। शरीर में सामर्थ्य भी नहीं, अपना समय व्यर्थ न करो।"

वे चले गये। अब यह अकेला रह गया है, अकेला ही रहना चाहता है, किसी तपस्या में लगा हुआ है। दिन-रात उसका हाथ हिलता ही रहता है। कभी ताल देता है तो कभी कुछ इशारा करता है, और अन्दर-अन्दर राग चलता जाता है। वह खुद गानेवाला है और खुद ही सुननेवाला।

दस साल से वह यहीं रहता है। भिक्षा से काम चल जाता है। वह लँगड़ा लड़का ही उसकी देखभाल करता है। अपने में ही तन्मय रहता है। किसी से कुछ लेना-देना नहीं, कहना-सुनना नहीं। जिस हालत में आया था अब भी उसी हालत में है। बुढ़ापा जम-सा गया है। दस साल में कोई खास फर्क उसमें नहीं आया।

यों तो अक्सर वह बोलता ही नहीं है और बोल भी नहीं पाता। एक बार किसी ने उससे पूछा, "क्यों भक्तजी, आप हमेशा यहीं भक्ति में लगे रहते हैं, क्यों नहीं वेंकटेश्वर स्वामी के मन्दिर के पास चले जाते, भगवान् साक्षात्कार हो जायेंगे?"

सुनते हैं इसने जवाब दिया, "भगवान् को देखने के लिये भक्ति-चक्षु, ज्ञान-दृष्टि चाहिये—भगवान् ने मुझे कोई भी चक्षु नहीं दी। देने को तो बड़ी-बड़ी आँखें दी हैं पर ऐसी जिनमें दृष्टिबल नहीं है। संगीत दिया है पर भक्ति नहीं दी। भक्तिहीन संगीत शब्दहीन राग-सा है। खोखला, उथला।"

"पर यहाँ बीचों-बीच रहने से क्या फायदा?"

इसने जवाब दिया, "मेरी तपस्या अधूरी है, मुझमें भगवान् के साक्षात्कार करने की योग्यता नहीं है और न साहस ही है। पश्चात्ताप का नाम भक्ति नहीं है। हमें यहीं रहने दो।"

जब कभी इसके बारे में कोई कुछ पूछता है तो दूकानदार साधारणतः चुप रहते हैं। कभी-कभी कुछ बता भी देते हैं—"बड़े योगी हैं, बहुत बड़े संगीतज्ञ, कभी इनकी शोहरत बम्बई तक फैली हुई थी।"

उन लोगों ने यह भी बताया कि वह एक बार सबेरे-सबेरे त्यागराय की कृति हारमोनियम पर बजा रहा था। इतने में कई लोग जमा हो गये। उनमें से कोई वह कीर्तन गाने लगा, शायद उसे संगीत का अच्छा ज्ञान न था, कुछ अपस्वर हुआ और इसने झट बजाना बन्द कर दिया। चेहरे पर झुर्रियाँ आ गयीं। गुस्से में आगबबूला हो गया। फिर वह बूढ़ा बच्चों की तरह रोने लगा।

एक दिन मद्रास से कई लोग आये। कोई पुराने जान-पहचानवाले थे—वीणा, तबला, वगैरह लाये। त्यागराय का जन्म-दिवसोत्सव था। चौबीसों घंटे संगीत चला। यह बेचारा सुनता जाता था। गा नहीं पाता था। शायद उस दिन यह सुनना चाहता था। उन्होंने इसे ले जाने की जिद की, पर यह नहीं गया।

इसके बारे में एक और मजेदार घटना है, जो दूकानदार बड़े चाव से सुनाया करते हैं—"नेल्लूर के किसी स्कूल के बच्चे घूमते-फिरते यहाँ आये। वे लोग झोंपड़ी के पास ही पेड़ के नीचे ठहरे, वहीं खाना वग़ैरह बनाया। खा-पीकर ग्रामोफोन रिकार्ड बजाने लगे। फ़िल्मी गीत थे। यह उन्हें सुनना नहीं चाहता था, कान बन्द कर लेट गया। कुछ देर बाद बच्चों ने तेलुगु का रिकार्ड बजाया—'देवनु महिमा…'[१] बहुत ही अच्छी प्रार्थना थी। वह उठ बैठा। फिर बजाने के लिये कहा। लड़कों ने बजाया। वही स्वर इसने हारमोनियम पर बजाया। लड़के भी गाने लगे। यह थोड़ी देर खिझा, न जाने क्यों? फिर खिलखिलाकर हँसने लगा जैसे कुछ बरबस याद आ गया हो। बाद को मालूम हुआ कि उस प्रार्थना का स्वर इसने ही बनाया था।

* * *

सबेरे का समय, पूरब में लाल होता हुआ धुँधलापन था। सूरज के

१. भगवान् की महिमा।

निकलने में अभी देरी थी। सर्दी के दिन, हवा ठण्डी थी। बस भर चुकी थी, चल पड़ी। कुछ देर तिरुपति के पहाड़ दूरी पर दिखाई पड़े, देखते-देखते हम पहाड़ पर ही आ गये। बस चक्कर खाती-खाती आगे बढ़ती जाती थी। ऊँचे-ऊँचे मन्दिर पहाड़ के भाग से नजर आते थे।

तिरुपति मद्रास के पास ही है। हमारी संख्या उनमें नहीं है जो तीर्थ-स्थानों की प्रदक्षिणा कर आसानी से पुण्य जमा कर लेते हैं। तिरुपति अच्छी जगह है, पहाड़ का पहाड़ है और जंगल का जंगल। मद्रास से जब दिल ऊब जाता है तो पाँच-सात साथियों को लेकर हम अक्सर तिरुपति चले जाते हैं। आज हमारे साथ एक परिचित इतिहास के प्राध्यापक, दो रिश्तेदार और तीन पड़ोसी थे।

बस चलती जाती थी, बातें भी चल पड़ीं—"लोग आखिर तीर्थस्थान क्यों जाते हैं?" पास बैठे किसी सज्जन ने कहा, "पापों से निवृत्त होने के लिए।"

हममें से एक ने कहा, "अगर पापों से इतनी आसानी से निवृत्ति हो जाय तो अक्लमन्दी इसी में है कि पाप के मज़े उड़ाये जायँ। मज़े के मज़े और पुण्य का पुण्य!" हम लोग हँस पड़े। लोगों में कानाफूँसी हुई। दो-चार ने हमारी तरफ़ घूरा।

बस मोड़ पर जा रही थी। सड़क मुश्किल से बीस फीट सीधी जाती कि फिर मुड़ जाती। हम बैठे ड्राइवर की होशियारी की तारीफ कर रहे थे।

हमारे सामने अगली सीट पर एक भारी-भरकम व्यक्ति बैठे हुए थे। सिर पर बड़ा-सा पग्गड़। रेशमी कुरता, उस पर रेशमी उपवस्त्र। माथे पर बड़ा-सा टीका······सफ़ेद और लाल। हाथ में बड़े-बड़े सोने के कंकण। प्रभावशाली चेहरा। पान चबा रहे थे। जहाँ सड़क थोड़ी सीधी हुई कि वह हमारी तरफ़ इस तरह मुड़े कि मानो जाँघिया कसकर दंगल में उतर आये हों।

बड़ी उम्र के थे। रौब से हमें देखा। प्राध्यापक जी हममें सबसे बड़े थे—लगभग पैंतीस के, बाकी सब अभी तीस के नीचे ही थे, उनकी नज़र

उनसे मिली। नज़रों में तीखापन था। वह कह रहे थे—"लगता है आप सब अभी कालिज में पढ़ रहे हैं ?"

"जी नहीं," हमने कहा।

"खैर, कालिज में पढ़े-लिखे तो होंगे। मैंने तो आप लोगों की उम्र से अनुमान किया था। क्यों, पहाड़ पर सैर-सपाटे के लिए निकले हैं ?"

"जी हाँ।"

"अभी तो आप छोटे हैं, दुनिया का······नहीं है।" सचमुच बूढ़ों में जवान होना भी गुनाह है। खैर, "आपका कहना सही नहीं मालूम होता··· पाप और पुण्य का झमेला इतनी सरलता से हल होनेवाला नहीं है। पाप क्या है पुण्य क्या है; कहना मुश्किल है। पर यह ज़रूर है जो कुछ हम करते हैं—पाप हो या पुण्य उसका मन पर असर पड़ता है—किसी काम को अच्छा मानते हैं तो किसी काम को बुरा। हममें एक अपराध की भावना आ जाती है। वही भावना हमें पश्चात्ताप के लिए प्रेरित करती है, ज्यों-ज्यों वह भावना पक्की होती जाती है, मनुष्य के लिए युक्तियुक्त होना मुश्किल हो जाता है। वह अंधविश्वासी होता जाता है। अंधविश्वास भी अच्छा है, उससे कम-से-कम ढाढस तो मिलता है। जीना कोई आसान नहीं है। पग-पग पर हम सांत्वना चाहते हैं।"

हमने मुड़कर देखा तो सब-के-सब बड़े गौर से सुन रहे थे। उनके कहने का ढंग ही यूँ आकर्षक था, और जो वह कह रहे थे वह भी कोई घिसी-घिसाई बात नहीं थी। वह कहते जाते थे—

"माना, तीर्थस्थान में पाप-वाप नहीं धुलते ! यह भी माना कि वहाँ जाना एक अंधविश्वास है, अगर किसी को उस अंधविश्वास में मजा आता है तो उससे आप उन्हें क्यों वंचित करते हैं ? है तो सबका उद्देश्य आनंद ही ? इसको कोई किसी ढंग से पाता है तो कोई किसी और ढंग से। हँसी-मजाक से क्या फ़ायदा ?" वह यकायक चुप हो अपना पग्गड़ सीधा कर सामने की ओर देखने लगे। कोई जवाब न सूझता था। मुख पर ताले पड़ गये थे।

इतने में बस के पिछवाड़े से हमें लक्ष्य कर किसी ने कहा—"तो क्या

मुनि और ऋषियों की बातें सब झूठी हैं—तीर्थों को महिमा कुछ है ही नहीं ? आजकल के पढ़े-लिखे लोग भला क्या जानें ? उन्हें तो अपने सिनेमा और होटलों से मतलब !" हम बुरे शिकंजे में फँसे। आगे वह सज्जन बैठे हुए थे, पीछे ये बड़बड़ाते हुए यात्री।

बस पहाड़ से सटी जाती थी। एक तरफ़ घाटी थी—घनी—काली। अभी सूर्य की किरणें वहाँ तक नहीं पहुँची थीं। बड़े-बड़े पत्थर। दृश्य देखते ही बनता था। मन्दिरों का और कोई मतलब हो या न हो, मै इतना जरूर जानता हूँ कि वे सब-के-सब बड़ी अच्छी जगह पर बने हुए हैं। प्रकृति की विशाल गोद में—कलकलाती नदियों के तट पर—गगनचुम्बी पर्वत-शिखरों पर।

वह सज्जन फिर हमारी तरफ़ मुड़े। चेहरे पर मुस्कराहट थी। हम खिड़की से बाहर देखने लगे, उनकी उपेक्षा-सी करते हुए, उन्होंने कहा—"जो कुछ मैंने कहा है बुरा न मानिये, चुप न रहा गया, कह दिया। उम्र हो गयी है······सबको अपने-अपने विचारों को रखने का अधिकार है, मुमकिन है मैं गलत हूँ।"

हम इसी गर्व में थे कि उन मैले-कुचैले, बेपढ़, श्रद्धालू तीर्थ-यात्रियों के बीच हमीं पढ़े-लिखे थे। पर उनकी बातों ने हमारा गर्व तोड़ दिया था। वह देखने में कोई पुराने ज़माने के प्रोफेसर लगते थे। मेरा उनके बारे में कुतूहल बढ़ता गया। नम्रता से पूछा, "आप कहीं प्रोफेसर हैं ?"

"पढ़ाता-लिखाता तो नहीं, हाँ, सिखाता जरूर हूँ।"

"क्या ?······आप मेरी उत्सुकता के बारे में अन्यथा न सोचें।"

"नहीं, कोई बात नहीं, मैं संगीत सिखाता हूँ।"

"कहाँ ?"

"विजयनगरम् में।"

मैंने अचरज से पूछा—"तो आप ही का नाम श्री नायडू है—आपकी प्रसिद्धि से परिचित हूँ। अक्सर हम आपकी वीणा रेडियो पर सुनते हैं।" मैंने श्रद्धा से हाथ जोड़ लिये। वह भी मुस्कराये।

सारे दक्षिण में उनसे संगीत में लोहा लेनेवाले विरले हैं। जहाँ कहीं जाते हैं उनका सम्मान होता है। संगीत-क्षेत्र में उनका प्रतिष्ठित स्थान है।

जब वह अगली बार हमारी तरफ़ मुड़े तो मैं कहने लगा कि––"मैं पत्रकार हूँ······मद्रास में रहता हूँ––संगीत में दिलचस्पी है······आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई······यहाँ दो-चार दिन ठहरियेगा······? मकान वग़ैरह का इन्तज़ाम हो गया है ?"

"हाँ, दो-चार दिन ठहरूँगा—एक मित्र के यहाँ।"

वह फिर सीधे बैठ गये। बस तेज़ी से चली जाती थी। चढ़ाई लगभग खतम हो चुकी थी। पौ फट चुकी थी। सूरज धीरे-धीरे चढ़ रहा था। पत्तों पर ओस चमक रही थी––कभी वह गिर पड़ती तो कभी पत्तों की नोक पर चिपटी-सी रह जाती—आसक्त-सी आर्द्र हृदया। ताजगी का वातावरण था।

बस की आवाज़ के सिवाय सब कुछ शान्त था। पेड़ आते और बस की गति के साथ पीछे चले जाते। झोंपड़ियाँ आयीं और चली गयीं। बस की गति मन्द हुई और एक पेड़ के नीचे खपरैलवाले मकान के नीचे खड़ी हो गयी।

दूर से वीणा की ध्वनि आ रही थी। उसमें न स्वर था, न राग—एक गंभीरता थी। न उतार, न चढ़ाव, न मिठास। शब्द गूँजता था और उस गुंजन में वह स्वाभाविकता थी जो नदी की कलकलाहट में होती है या घने चीड़ के जंगल में।

वह सज्जन छड़ी के सहारे उतरे। उनके मुँह पर कुछ भारीपन था—कुछ वेदना। आँखें तर थीं। जिस तरफ से आवाज़ आ रही थी उसी तरफ देखने लगे, और छड़ी से बस की छत की ओर इशारा कर रहे थे। वह कुछ बोल नहीं पा रहे थे। हिल भी नहीं पाते थे। कुछ सोचते-सोचते वहीं खड़े रह गये।

"क्यों आप मन्दिर तक नहीं आयेंगे ? उतरियेगा ?"

वह चौंके, "हाँ, यहीं उतरना है। हमारा मन्दिर यहीं है।"

हमने उनका सामान उतरवा दिया—बिस्तर, बड़ी वीणा, फलों के दो-चार टोकरे। वीणा उन्होंने अपने हाथ में ले ली। मैंने बिस्तर पकड़ लिया, साथवालों ने फलों के टोकरे ले लिये। जिस तरफ से वीणा की ध्वनि आ रही थी उसी तरफ नायडूजी आगे-आगे जाने लगे, हम लोग उनके पीछे-पीछे। वीणा की आवाज और गम्भीर होती जाती थी। नायडूजी के क़दमों में भी भारीपन आ गया था। झोंपड़ी के दरवाज़े खुले थे। दरवाज़े के पास एक अन्धा वीणा लिये बैठा था। अंगुलियाँ एक तार को बजा रही थीं। उनमें विद्युत-शक्ति-सी थी। माथे पर सफ़ेदी थी। होंठ हिल रहे थे। पलकें भी झपक रही थीं। नायडूजी दूर ही खड़े रहे, पेड़ के नीचे। आगे बढ़े नहीं। थोड़ी देर बाद उसकी उँगलियाँ रुकीं। वह गूँज थमी। उन्होंने कहा—"नमस्कार।"

"नमस्कार।"

"उठो, गले लगा लें, सालों हो गये हैं।"

"अच्छा···तुम···आ···गये···उठ नहीं पाऊँगा, एक पैर हिलता नहीं है।"

नायडूजी उसके पास जा बैठे। उनकी आँखों से आँसू वह रहे थे।

"आँखें तो भगवान ने पहले ही ले ली थीं···अब हाथ-पैर भी ले लेगा···यह नश्वर शरीर पड़ाव के नजदीक आ गया है।"

नायडूजी ने अपना मुँह रुमाल से ढँक लिया, दो बिछुड़े दोस्त मिले थे। अन्धा बोल उठा, "देखो मैंने एक राग निकाला है—सुनो।" नायडूजी की आँखें एक क्षण बिजली की तरह चमकीं, फिर बारिश की तरह बरस उठीं।

वीणा पर उसकी उँगलियाँ चलने लगीं। एक तरह की ध्वनि उठती थी—ठन् ठन् ठन्। नायडूजी ने उँगलियों की तरफ़ देखा। रुमाल मुँह पर रखकर मुँह फेर लिया। वह बिलख रहे थे।

* * *

दो-दिन बाद हम वापस आये। इन दोनों के मिलने से हम चकित थे। बस उतरते ही उस झोंपड़ी के निकट पहुँचे। वह लंगड़ा घड़ों के पास बैठा

था और उसके पास वह अन्धा ध्यानावस्था में था। उसके चेहरे पर शान्ति थी। वह घुटन और विह्वलता न थी। होठ बन्द, बड़ी-बड़ी आँखें भी बन्द। संगीत सुनने में मग्न था।

अन्दर नायडूजी अपनी वीणा बजा रहे थे। माथे पर पसीना था। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। आँखें लाल-लाल और थकी हुई थीं। लगता था कि किसी तंग गुफा में कोई गम्भीर ध्वनि निरंतर प्रतिध्वनित हो रही हो। ध्वनि अपरिचित और विचित्र-सी थी। शायद वह उस व्यक्ति के नये राग को जिसका वह सिर्फ़ संक्षिप्त संकेत ही कर सका था, बजाने का प्रयत्न कर रहे थे।

हम पेड़ के नीचे बैठ गये। पास जाने की हिम्मत न हुई। संगीत उस शान्त वातावरण में तरंगित हो रहा था—एक गुदगुदानेवाला अनुभव था—न तबला, न वाइलेन, सिर्फ़ वीणा—भारी-भारी, गूँजती, लहराती ध्वनि।

दो-तीन बसें आयीं। लोग उतरे, पानी-वानी पिया। इधर-उधर झाँका, किसी ने पूछा—"कौन है?" किसी ने कहा—"कौन जाने कौन है, होगा कोई साधू-संन्यासी, कोई भगत है।" उत्सुकता जगी और सो गयी। लोग आये और चले गये। वीणा बजती जाती थी।

करीब आधा घंटे बाद नायडूजी उठे और अन्धे के पास आये। धोती से पसीना पोंछते हुए उन्होंने उससे पूछा—"कैसा है?"

अन्धे ने हाथ से कुछ इशारा किया और सिर हिला दिया। चेहरे पर सन्तोष था। एक तरफ़ का होंठ मुस्कराहट से नीचे झुक गया था।

नायडूजी ने हमारा परिचय कराया। हमने उन्हें नमस्ते की, वह यथा-पूर्व बैठा रहा।

"अभी कसर है, इसे पूरा कर लूँ, फिर बातें करेंगे।" वह अन्दर जाकर वीणा बजाने लगे और बजाते ही गये। आधा घण्टा और गुज़रा। हम भी मन्त्र-मुग्ध-से बैठे रहे।

नायडूजी ने उद्विग्नता से पूछा, "अब कैसा? ठीक हुआ कि नहीं?"

उस व्यक्ति ने कहा, "हाँ।" नायडूजी खुशी से खिल उठे—इतने खुश मानो सोने की खान हाथ लग गयी हो। कभी हमारी तरफ देखते तो कभी

उसकी तरफ़। सोच नहीं पा रहे थ कि क्या कहा जाय। इधर-उधर घूमने लगे—झटके-से रुककर पूछा, "इस राग का नाम क्या रखा जाय?"

अन्धे की भौंहें चढ़ गयीं। बड़ी-बड़ी आँखें खुलीं और बन्द हो गयीं—उन्होंने नायडूजी से जाने का इशारा किया।

मैंने कहा, "अर्द्धपूर्ण!" इसलिए नहीं कि मैं संगीत का विज्ञ हूँ पर मैंने इस दृष्टि से कहा चूँकि वह जगह ठीक मन्दिर के आधे फासले पर थी। नायडूजी मुस्कराये और फिर उसी तरह चलने लगे।

हमने नायडूजी से बाहर आने की प्रार्थना की। हमारे सामने बिखरा-बिखरा पहाड़ था। एक तरफ़ टेढ़ी-मेढ़ी मोटर की सड़क और दूसरी तरफ़ संकीर्ण पैदल रास्ता, फिर एक बड़ा-सा टीला और टीले के बाद खड्ड। बाद नीचे कहीं चन्द्रगिरि की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं।

टीले पर नायडूजी भी बैठ गये। नीचे क्षितिज पर लाल-पतली लकीर धुँधली होती जाती थी—नीला आकाश नीले पहाड़ों पर अपना नीला आवरण डाल रहा था। सूर्यास्त हो चुका था। एकाकी सान्ध्य-तारा रात्रि के लिए पथप्रदर्शन करता टिमटिमा रहा था।

"दो दिन से अभ्यास कर रहा हूँ—अब कहीं ठीक हुआ है। बाँहें दुख रही हैं। अंगुलियाँ तो काठ हो गयी हैं।"

"किसका अभ्यास?"

"इसने मुझे एक नया राग बताया—राग तो नहीं कहना चाहिए—पर कई रागों का सुन्दर सम्मिश्रण है। कई दिनों से मन में होगा, मुझे दे दिया। मैं सचमुच खुशनसीब हूँ। कैसा था?"

"सुनते-सुनते ऐसा लगता था कि फौलादी जंजीरें एक के बाद एक टूट रही हों। ध्वनि में शक्ति थी—तूफ़ान की-सी। स्वतन्त्रता थी।"

हम सब थोड़ी देर तक चुप रहे। नायडूजी तो प्रकृति को पीते हुए नज़र आते थे।

मैंने ही साहस कर पूछा—"यह कौन हैं और यहाँ क्यों रहते हैं? क्या इनका इलाज नहीं हो सकता, फालतू क्यों तकलीफ़ें झेलते हैं?"

"हो क्यों नहीं सकता? करवाये तब न! वह तो खुश है कि उसे बीमारी हो गयी है। वह तो कष्ट चाहता है और मृत्यु की प्रतीक्षा में है।"

"क्यों?"

"कष्ट सह-सहकर······क्या बताऊँ? क्या कहा जाय?···अपने को वह दण्ड देना चाहता है···"

"क्यों?"

"वह एक पुरानी कहानी है। अब तो गुज़रे कई साल हो गये हैं। हमारी उम्र के लोगों को तो अच्छी तरह याद है। संगीत में यह बहुत मशहूर है, वीणा में इसकी होड़ करनेवाला उन दिनों कोई नहीं था, पर अचानक इसकी आँखें चली गयीं—बिजली-सी गिर गयी। अन्दर का संगीत अन्दर ही रह गया।"

"अन्धे कैसे हो गये?"

"आँखें तो शुरू से ही कमज़ोर थीं। मोटे-मोटे शीशे के चश्मे पहना करते थे। चेचक हुई और वे कमज़ोर आँखें भी शीशे की-सी हो गयीं। जब भगवान दण्ड देना चाहते हैं तो जी-भर के देते हैं।"

"पर भगवान ने दण्ड क्यों दिया?"

"आप जानकर क्या करेंगे···?"

"फिर भी···आपने तो ऊपर-ऊपर से कह दिया। अधूरी कहानी तो आप जानते ही हैं······"

नायडूजी स्थिर बैठे रहे। घाटी में चाँदनी चमक रही थी···पत्थर··· नंगे पत्थर···चाँदनी में खिल-से उठे थे। पेड़-पत्तों में भी शरम की नज़ाकत आ गयी थी। सुहावना दृश्य था।

"हम दोनों की उम्र लगभग एक-सी है···मेरी क़रीब छप्पन की और उसकी कोई साठ की है। जमाना हो गया है। कभी साथ-साथ पढ़े थे। साथ संगीत सीखा था। आज वह कहाँ और मैं कहाँ? लोग कहते हैं कि मैं संगीत जानता हूँ, पर अब तक मुझसे एक राग भी न बना—न जाने इसने कितने ही स्वर बनाये थे—दिल में संगीत था और हाथों में हुनर—क्या दिन थे।

उनकी याद अब भी दिमाग में चाँदनी की तरह है।"

नायडूजी कह तो रहे थे पर उनका मन इतना भारी था कि कहानी बूँद-बूँद कर टपक रही थी, हमारी उत्सुकता बढ़ती जाती थी।

नायडूजी कह रहे थे—"वह कृष्णा ज़िले का था; और मैं विशाखपट्टणम का। हम दोनों की जात-पाँत भी एक न थी। उन दिनों विजयवाड़ा के पास एक संगीत का स्कूल हुआ करता था। हम दोनों वहीं पढ़ा करते थे। यह तब भी सबसे ज्यादा होशियार माना जाता था। हम दोनों में तभी से होड़ थी। इसकी बुरी आदत थी—जब आलाप करता तो अपनी चोटी को थपथपाता जाता···याद करके हँसी आती है···छुटपन था। जब यह सो रहा था मैंने ईर्ष्या से इसकी चोटी काट दी। कुछ दिन सचमुच आवाज़ नहीं निकली।" नायडूजी मुस्कराने लगे।

"उन दिनों छुटपन में ही शादी कर दी जाती थी। यह ब्राह्मण था। इसकी शादी हो चुकी थी। पत्नी भी इसके साथ शहर में रहती थी। अच्छे घर की लड़की थी—पतिव्रता, शान्त स्वभाववाली। यह ज़रा अजीब प्रकृति का था—पर संगीत में बहुत ही होशियार, बहुत ही भावुक और रसिक। आप जानते ही हैं रसिक लोगों की कमज़ोरियाँ। तभी से इसकी बुरी आदतें थीं। अपनी गृहस्थी पर अपने ही हाथों कुल्हाड़ी चला रहा था।

"विजयवाड़ा में हम दोनों ने संगीत की शिक्षा खतम की। उन दिनों हमारे गुरु चिदंबरम् में रहा करते थे। वह अब स्वर्गस्थ हो गये हैं। उनकी प्रसिद्धि सारे दक्षिण में थी। सैकड़ों शिष्य थे। वीणा में तो उनके सदृश कोई विद्वान् न था। दूर-दूर से लोग उनके यहाँ सीखने आते थे। उनकी जात के बारे में कहना तो नहीं चाहिए···वह देवदासियों के कुटुम्ब में जन्मे थे। अब भी शायद उनके परिवार में वह पेशा जारी है, नहीं मालूम।

"हम दोनों ने उनके पास जाने की ठानी। मैं तो अविवाहित था ही, यह भी अपनी पत्नी को उसकी माता के घर छोड़ आया। संगीत की धुन थी—अगर उसे सीखने के लिए उन दिनों उत्तरी ध्रुव जाने के लिए भी कहा जाता तो चले जाते। पागलपन-सा सवार था। इसको तो पैसे की तंगी न थी।

अच्छा घराना था। बाप-दादाओं की ज़मीन थी। बेफ़िक्र चला आया। मेरे पास सिवाय मेरे उत्साह के और कुछ न था।

"चिदंबरम् के पास एक छोटा-सा गाँव है। पचास-साठ मकान होंगे। घर-घर संगीत की साधना होती है। वहाँ हमारे गुरु का घर मशहूर था। पीढ़ियों से उनके यहाँ संगीत का अध्ययन चला आता था। संगीत ही जीवन था और जीविका भी।

"गुरु की उम्र हो गयी थी। करीब साठ-सत्तर के थे। घर में बाल-बच्चे न थे। पहली पत्नी जवानी में गुज़र गयी थी। शरीर बुढ़ापे से शिथिल हो गया था। उन्होंने दूसरी शादी कर ली थी, पत्नी की उम्र कोई बीस वर्ष की थी। वही उनका सहारा थी। उनकी सेवा करती और संगीत का अध्ययन करती।

"सिवाय उन दोनों के मकान में और कोई न था। वह छोटा-सा घर भी सुनसान-सा लगता था। हम दोनों वहीं रहते। हमारे खाने-पीने का इन्तज़ाम भी वहाँ होता था। अध्ययन और अभ्यास में ही हमारे दिन कटते। हम दोनों के अलावा पाँच-छः व्यक्ति और संगीत सीखने के लिए आते थे। गुरु भी बुढ़ापे के बावजूद जी तोड़कर वीणा सिखाते।

"यह ही हम सब में अच्छा था। तभी यह संगीतोत्सव में भाग लेने लग गया था। उन दिनों रेडियो तो थे नहीं। विवाह वग़ैरह के मौके पर संगीत-सभा की आयोजना की जाती थी। दक्षिणा पाता। यह गुरु का भी प्रिय शिष्य था। इससे एक प्रकार की हमें ईर्ष्या थी।

"एक बार मैंने इसकी वीणा चुराकर किसी को बेच दी। नीच काम था। अब भी पछताता हूँ। इसकी याद मन में काँटे की तरह चुभती है। ईर्ष्या बुरी बला है। इसलिए एक नयी वीणा खरीदकर इसे देने आया हूँ।

"हाँ, तो संगीत सीख गया मगर इसकी नीयत ख़राब थी। यह खूब-सूरत तो था ही, पैसेवाला भी था। जो गुरु सिखा सकता था सीख चुका था। इसमें अभिमान आ गया। पत्नी दूर थी। उस घर में गुरु की पत्नी के सिवाय और कोई न था। यह मन का ऐसा पक्का न था। गुरु के लिए श्रद्धा

की मात्रा भी कम थी—अगर थी तो वह सुख-लालसा के नीचे दबी हुई थी। वह स्त्री भी कुछ जवानी की वजह से, और कुछ वातावरण के कारण, गुरु के योग्य न रह सकी।

"इनकी घनिष्ठता बढ़ती गयी। गुरु तो अन्धे थे। मुझे नहीं मालूम कि उनको इनकी घनिष्ठता के बारे में मालूम था या नहीं, हम भी कह न पाते थे। यह सरासर गुरुद्रोह था। दक्षिणा देनी तो अलग, वह गुरु की शान्ति को भंग कर रहा था।

"मामला वहुत दूर तक बढ़ गया। पत्नी गुरु की अवहेलना करने लगी। हम भी तंग आ गये। सबकी बदनामी थी। मैंने बहुत-कुछ सोच-विचारकर अपने हस्ताक्षर के साथ इसकी पत्नी को चिट्ठी लिख दी। वह चिदंबरम् आयी भी, पर क्या करती? गुरु से कहती तो पति की बदनामी, अगर न कहती तो दूसरी आफ़त। झगड़ा करे तो बेकार का शोर। समझा ही सकती थी। इससे कुछ कहा-सुनी हुई। बेचारी भाग्य को कोसती वापस चली गयी।

"हमारी शिक्षा समाप्त हुई। चार साल का लम्बा अर्सा समाप्त हुआ। हम गुरु से विदा लेते समय सोच रहे थे—जो हुआ सो हुआ, कम-से-कम अब तो वह गुरु की सेवा करेगी, पर हुआ कुछ और। वह स्त्री इसको छोड़ने-वाली न थी, उसने इसके साथ जाने की ठानी। यह भी उसको मना न कर पाता था।

"रात को दोनों गुरु से बिना कहे ही चले गये। गुरु ने सवेरे यथापूर्व प्रार्थना की—आँखों में आँसू भर भोजन के समय कहा, 'उसने अंधे का सहारा ले लिया, पाप है, कभी खुद बेसहारा होगा। संगीत विलास का साधन नहीं है, भक्ति का वाहन है। वह गायेगा, लोग सुनेंगे, पर अपने-आप घुट-घुट-कर मरेगा।' इसके कुछ दिनों बाद गुरु दिवंगत हो गये।"

"तो यह गुरु-शाप है?" मैंने कहा।

"आप लोगों को न गुरु में विश्वास है, न शाप में ही—दुखी दिल की आह बेकार नहीं जाती। कुछ भी कहिए गुरु का कहा आपने देख ही लिया—गुज़र कर ही रहा। उस भक्त का शाप लगा ही।

"जब तक यह अच्छा रहा इसके साथ वह स्त्री भी रही। आरंभ में संगीत के द्वारा अच्छी आमदनी भी हो जाती थी। ऐश-विलास सब थे। बाद में सिनेमा आया, उसमें भी वह इसे घसीट ले गयी। पैसे का लालच था। संगीत का भी सत्यानाश किया, और अपना भी। शराब-वराब पीने लगा था। सभी ऐब थे। पैसा इस हाथ से आता, उस हाथ से जाता। कहते हैं बड़ी उम्र में चेचक नहीं निकलती, पर इसे चेचक-सी कुछ निकली और आँखें ले गयी। वह स्त्री इसके साथ कुछ दिन तक रही—तितली थी, बाद में किसी और फूल पर फुदक गयी।

"इसकी पत्नी ने आकर इसकी सेवा-शुश्रूषा की। जब तक वह स्त्री रही, पत्नी को घर आने की मनाही थी। वह भी दो-चार साल बाद गुज़र गयी। तब सब-कुछ छोड़छाड़कर यहाँ चला आया। पछता रहा है—किये को भोग रहा है।"

हम सबकी नजरें नायडूजी पर थीं और उनकी नज़र कहीं दूर गड़ी थी। हम स्तंभित से बैठे थे। नायडूजी कह रहे थे, "अब हम उसे सहारा दें तब भी नहीं लेगा। बेसहारा ही रहना चाहता है। आज हमें टिकने भी नहीं देगा, बसें मिलेंगी ?"

"बस मिलने की अब कोई उम्मीद नहीं।"

नायडूजी ने उठते हुए कहा, "ज़रूरत भी क्या है ? चाँदनी है, पैदल चले चलेंगे। उतराई ही तो है।"

हम सब झोंपड़ी की ओर चले आये। झोंपड़ी के अन्दर वह वीणा बजा रहे थे। व्यस्त थे। नायडूजी सीधे अन्दर गये। उन्होंने इशारा किया—"अभी तुम गये नहीं, जाओ यहाँ क्या रखा है ?"

"जा रहा हूँ," नायडूजी ने बैठकर नमस्ते की। उनका हाथ अपने हाथ में ले वह सिसकने लगे। मन भरा हुआ था। आँखें भी भारी थीं। नायडूजी ने वीणा उनके सामने रखी। उसके सभी तार तने हुए थे। धीमे-धीमे कहा—"यह तुम्हारे लिये है, रखो।" उनकी आँखें खुलीं और बन्द

हो गयीं। कहा—"ले जाओ, नहीं चाहिए!"

नायडूजी बोल नहीं पाते थे। नमस्ते करते-करते बाहर चले आये। चौखट पर ही थे कि अन्धे गायक ने सिवाय एक तार के सब तार झटके से तोड़ दिये। आवाज़ हुई—ठन् ठन् ठन्। गूँजी और खतम हो गयी।

७

टूटा पुरजा

जब मुनुस्वामी न आया तो उसकी पत्नी कोन्डालम्मा ने मुहल्ले में पाँच-दस से कहा, लड़की को सड़क पर भेजा, किसी पड़ोसी को ट्राम शेड के पास पूछताछ के लिए रवाना किया। पर जब उसका कुछ न मालूम हुआ तो परिवार पहले की तरह चलने लगा, जैसे उसकी उपस्थिति-अनुपस्थिति से कोई फर्क न पड़ता हो।

कोन्डालम्मा ने दो-चार दिन रसोई जरूर नहीं की, शायद वह भी इस-लिए नहीं कि मुनुस्वामी घर में न था, पर इसलिए कि घर में पकाने के लिए कुछ न था। थोड़ी-बहुत वह रोई-पीटी भी। पर चूँकि रोना-पीटना रोज-मर्रा का काम था इसलिए किसी पर कोई विशेष असर न हुआ। मानों तालाब में किसी ने पत्थर फेंका हो, लहरें उठीं हों और किनारे में समा गई हों और तालाब का पानी फिर निश्चल हो गया हो।

मुनुस्वामी का परिवार एक बेकाम मशीन की तरह था और वह स्वयं एक टूटा-फूटा ढीला-ढाला पुरजा था।

मुनुस्वामी की उम्र बावन-तिरेपन की थी। मोटा शरीर, काला तपा रंग, सरकंडे के फूल-से बाल। झुर्रियोंवाला चेहरा।

जब तक वह ट्राम की कंपनी में काम करता रहा तो उसका जीवन भी ट्राम की तरह था—पटरियों पर सीधा चलता जाता था—आगे-पीछे खट-खट करता, धीमे-धीमे। सवेरे घर से काम पर जाता और शाम को वापस चला आता। पिछले पच्चीस सालों से वह यही करता आया था। जैसे ट्राम को कभी-कभी कारखाने में मरम्मत और रंग के लिए भेज दिया जाता था उसको

भी कभी-कभी आराम के लिए बहुत-कुछ मिन्नत के बाद छुट्टी मिल जाती थी।

परन्तु अब उसकी हालत उस टूटी-फूटी ट्राम की तरह थी जो पटरी पर से गिर पड़ी हो या जिसके पहियों के नीचे से पटरी गायब हो गई हो।

वह ख्वाब ले रहा था कि एक-दो साल में वह रिटायर हो जाएगा, प्रोविडेंट फण्ड मिलेगा, लड़की की शादी कर देगा और राम नाम जपता वक्त काट देगा। ज्यों-ज्यों रिटायरमेंट के दिन नजदीक आते जाते थे उसमें भी एक अजीब चुस्ती-सी आती जाती थी। उसके पोपले मुँह पर रह-रहकर हँसी दौड़ जाती थी।

पर यकायक मद्रास की ट्राम-वे कम्पनी बन्द कर दी गयी। घाटे के कारण बताया गया। अदालतों में मुकद्मेबाजी हुई। सरकार ने भी हाथ-पैर हिलाये। अखबारों में शोर-शराबा हुआ। लोगों में खलबली मची। बस।

मुनुस्वामी पर तो बिजली ही गिर पड़ी। उसकी ट्राम पटरी पर से फिसल चुकी थी। आशाओं की बाम्बी यकायक दह गई। उसको ऐसा लगा कि गाड़ी तो वह चला रहा हो पर गाड़ी न चल रही हो।

लड़की की शक्ल देखते ही वह जल-सा उठता। दीवार पर टंगे देवी-देवताओं को मन-ही-मन हाथ जोड़ता। भाग्य को कोसता और झक मार-कर बैठ जाता। थोड़ा-बहुत पैसा मिला था, जैसे-तैसे गुजारा कर रहा था।

वे हाथ-पैर जो सिवाय नींद के कभी खाली न रहे थे ऐसे लगते थे जैसे खुद-ब-खुद हिल रहे हों। घर में बैठा क्या करता? बीड़ी सुलगाता और साथ के ड्राइवरों के पास जा अपना दुखड़ा रोता। सबका रोना एक-जैसा ही था। कौन किसको सुनाता और किसकी सुनता!

घर उसको काटता-सा लगता। एक लड़की थी—उम्र बीस-बाईस की। पच्चीस वर्ष खून-पसीना एक किया पर वह एक लड़की के हाथ भी पीले न कर पाया। किस्मत की बात है। पेरुमाल ने दस साल ही नौकरी की और तीन लड़कियों की शादी कर दी।

मुनुस्वामी जो कुछ कमाता खाने-पीने में खर्च हो जाता। इकलौती लड़की थी। लाडली। जो कुछ माँगती, पाती। बाप ने कभी न नहीं किया। माँ ने कभी उसे आँख न दिखायी। और अब वही लड़की नागिन की तरह लग रही थी।

उनके बारे में मुहल्लेवाले बे-सिर-पैर की कहते थे। कइयों का तो यह भी कहना था कि मुनुस्वामी को लड़की प्यारी है—वह उसके बिना एक दिन भी न रह सकेगा, इसलिए उसको वह क्वांरी रखे हुए है। हो सकता है कि यह कुछ हद तक ठीक हो, पर सच तो अब यह है कि वह लड़की से दूर भागता रहता है।

एक महीना बीता, दो महीने बीते। मुनुस्वामी ने दौड़-धूप की। पर जब नौकरी थी तभी किसी ने न पूछा, भला अब उसको कौन पहचानता? रिश्तेदारों में बात छेड़ी पर सबने इधर-उधर की कही और असली बात टाल दी। घर में पत्नी आग उगलती रही।

पत्नी की तो आग उगलने की आदत थी। उसने अपनी जिन्दगी उस आग को झेलते ही काटी थी। वह अपनी जलन को काम में भूलने की कोशिश करता। न जाने भगवान ने उन दोनों की क्यों जोड़ी बनाई थी। पत्नी की और उसकी कभी न पटी। उसकी हर बात में मुनुस्वामी को जहर का डंक दिखाई देता।

जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे तंगी अधिक होने लगी। घर में फाके पड़ने लगे। पत्नी भी लाचार थी। वह पति को काम की खोज में जाने के लिए बुरा-भला कहकर हाँकती।

बावन वर्ष की उम्र। कहाँ जाये मुनुस्वामी? जिन्दगी-भर ट्राम चलाई थी। कभी और कोई काम किया न था। न शायद और कोई काम आता ही था, फिर भी वह कोशिश करता रहा। उसी की तरह सैकड़ों ड्राइवर काम की खोज में जमीन-आसमान एक कर रहे थे। मुनुस्वामी ने कई किवाड़ खटखटाये पर उनको बन्द पाया।

भटक-भटककर घर वापस आता, कुछ कहीं से उधार मिलता तो

दो-चार कौर खा लेता, नहीं तो भूखा सो जाता। वह शरीर जिस पर कभी मोटी मांस की परत थी अब ढीला होकर लटक-सा गया था।

"भगवान ने दो हाथ क्या इसीलिए दिये हैं ताकि बेकार बैठे रहो ?" पत्नी ने मिर्चें उगलीं।

"कौन बैठा है ?··· ··" मुनुस्वामी ने कुछ कहना चाहा कि पत्नी गरज उठी, "नहीं तो बड़े काम पर लगे हुए हो ? तभी तो यहाँ सवेरे-शाम चूल्हा चढ़ता है !"

"खोज तो रहा हूँ काम।"

"ठीक तरह खोजो तो क्या काम ही न मिलेगा ? कृष्णनू को बसवालों ने ले लिया है। वह भी तो आखिर तुम जैसा ड्राइवर ही था।"

"पर मेरी उम्र में और उसकी उम्र में ठीक बीस वर्ष का फर्क है—जानती हो ?"

"तो क्या तुम हमेशा ड्राइवरी ही करते रहोगे ? क्या दुनिया में और कोई काम नहीं है ? न जाने क्यों मेरा तुम-जैसे निखट्टू से पाला पड़ा ? जब तक कमाया एक पाई न रखी, न आगे देखा न पीछे, पैसे को हाथ की मैल की तरह साफ कर दिया।"

"काम खोज तो रहा हूँ।"

"फिर वही···अब इस अपनी लाडली को कैसे तराओगे ? जब लोग आये तब तुम्हें कोई पसन्द न आया और अब लाख खुशामद करो तो कोई न आये। मैं जिन्दगी-भर चिल्लाती रही कि इसको भी किसी के पल्ले बाँध दो पर तुम्हारे कान पर जूँ तक न रेंगी। अब कहो क्या कहते हो ?"

"हूँ हूँ," मुनुस्वामी कुछ बोल न सका।

"तुमसे बातें करने से अच्छा है कि दीवार से ही बातें कर लूँ। मर्जी होती है कि जा डूब मरूँ लड़की को लेकर कूएँ-नदी में। तुम्हें तो शर्म है नहीं, क्या हमारी भी शर्म मारी गई है ? पाँच मिनट की ही तो बात है···सांस रोकी कि इस दुनिया के बन्धन टूटे। देख क्या रहे हो ?"

मुनुस्वामी खाँसा। उसने अपनी पत्नी की ओर देखा, कुछ कहना चाहा

पर उसको गरजता सहम-सा गया। आँखें नीचे कर लीं। शायद उसको जवानी के वे दिन याद आये जब कि शराब के नशे में वह पत्नी की पीठ पर अच्छी-खासी बेंत तोड़ देता था। बिना बेंत के उसकी जबान काबू में न आती थी। उम्र के साथ पत्नी की जबान और भी तेजाबी हो गई थी।

"अगर मैं ही मरद होती तो भीख माँगकर अपनी लड़की की शादी करती। भले ही फाके करने पड़ जाते पर सयानी लड़की को घर में नहीं रखती। अब नौबत आई है कि फाके भी हो रहे हैं और लड़की भी घर में पड़ी है। चूड़ियाँ क्यों नहीं पहन लेते ? किसान की लड़की हूँ, कोई कहारिन नहीं हूँ कि दिन-रात दूसरों के बर्तन माँजूँ। घर में खाना हो या न हो मैं दूसरों के घर काम करने नहीं जाऊँगी। सुनते क्यों नहीं हो ? कान खोलकर सुनो। घरवाली को खाना-पिलाना मर्द का काम है न कि घर-वाली का मर्द को खिलाना। कब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहोगे ?"

मुनुस्वामी वहाँ बैठा न रह सका। उसने अपनी अधजली बीड़ी सुल-गाई और बाहर जा बैठा। पत्नी आग होती जाती थी।

"घर में दो पैसे भी नहीं, नहीं तो मैं कहीं एक छोटी-मोटी दोसे[1] की दुकान ही खोल लेती। मेरे बस की बात नहीं कि मैं तुम्हें चावल परोसती। बेशर्म तो हो ही, भीख क्यों नहीं माँग लेते हो ?"

मुनुस्वामी को बेहद गुस्सा आया। वह उठा और पत्नी के बाल पकड़-कर खींचने लगा, पीठ पर दबादब मारने लगा।

"अगर इतने मर्द हो तो काम क्यों नहीं करते हो ? औरतों पर ही यह मर्दानगी दिखानी आती है !" वह बकती जाती थी और मुनुस्वामी मारता जाता था। वह आखिर थक-थकाकर बाहर आकर बैठ गया। पत्नी भी सिसकती-सिसकती सो गई। जब मुनुस्वामी सवेरे उठा तो उसका तकिया भी गीला था।

* * *

मुनुस्वामी कर ही क्या सकता था ? काम मिलने की कोई उम्मीद न

[1] दक्षिण भारत का एक पकवान।

थी। घर बैठ न पाता था। भीख भी न माँगी जाती थी। आदतन वह सवेरे उठ ट्राम-शैड की ओर चला।

संयोगवश उसी की ट्राम शैड में सबसे पहले खड़ी थी—१२५ नम्बर। उसके हाथ खुजलाने लगे। ऐड़ियाँ ऊपर उठीं, फिर यकायक मुख से आह निकली और सिर एक ओर झुक गया। वह वहीं दीवार के सहारे खड़ा रह गया।

वहाँ पुलिस का पहरा था। पहरेवाले ने कहा, "जाओ यहाँ से। यहाँ आना मना है।"

"कब से ?"

"जाओ यहाँ से।"

"अरे जिन्दगी यहाँ काटी है और अब तुम यहाँ आने के लिए मना कर रहे हो।"

"तो क्या तुम ट्राम-वे वर्कर हो ?"

"हाँ, हाँ।"

"तो क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारा आना यहाँ खतरनाक है ?"

"हूँ, हूँ।"

"जाओ, यहाँ काम-वाम कुछ न मिलेगा।"

"हूँ···तो क्या···भी···" मुनुस्वामी ने हाथ पसारने चाहे पर पसार न सका। हाथ फटी जेब में रख लिए। नजर फेर ली। पासवाले मकान की चारदीवारी पकड़कर दूर देखने लगा।

आने-जानेवाले आ-जा रहे थे। मुनुस्वामी उनकी तरफ दीन दृष्टि से देखता, कुछ कहना चाहता, पर चुप हो इधर-उधर देखने लगता। आठ-दस घंटे बीड़ी पीता-पीता वह उसी हालत में इधर-उधर फिरता रहा। अंधेरा होते-होते वह घर पहुँच गया। न पत्नी बोली न वह ही बोला। भूखा ही सो गया।

अगले दिन सवेरे वह फिर ट्राम-शैड के पास जा पहुँचा। उसने भीख माँगने का निश्चय कर लिया था; और ट्राम-वे वर्कर शायद ट्राम-शैड के

पास ही भीख माँग सकता था।

उसके कपड़े चीथड़े हो चुके थे। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। सूखे बाल धूल-धुसरित थे। चेहरे पर मिट्टी की मोटी परत थी। आँखें लाल। पीली मूँछें। वह वही मुनुस्वामी था जो कभी शान से वर्दी पहने, बटनों को चमकाकर काम पर आता था। वह अब ड्राइवर मुनुस्वामी न था, भिखारी था। और न जाने तब भी क्यों उसको १२५ नम्बर ट्राम देखकर मन में गुदगुदी होती थी।

वह सवेरे से शाम तक वहीं खड़ा रहा। अच्छे कपड़े पहने हुए एक भद्र पुरुष के पास भीख माँगने गया पर न जाने क्यों उसकी शक्ल देखते ही भीख न माँग सका और उसके मुख से निकल पड़ा, "कोई काम मिल सकेगा ?" भद्र पुरुष अपने रास्ते पर चलता गया।

ज्यों ही वह ट्राम-शैड की ओर मुड़ा तो ट्राम के पास बिजलीवाला बीड़ी पीता हुआ जा रहा था। वह उसका परिचित था। उसने सोचा कि पास जाकर उससे दो आने माँगे।

"क्यों, क्या हो रहा है भाई ?" मुनुस्वामी ने उससे पूछा।

"ट्राम कार की मरम्मत हो रही है।"

"क्या फिर से चलेंगी ?"

"यह तो भगवान जाने, हम तो हुक्म बजा रहे हैं।"

"आखिर क्यों मरम्मत हो रही है ?"

"सुना है कम्पनी ट्राम कारें बेचना चाहती है। बेचने से पहले रंग-रोगन चढ़ाकर, मरम्मत कराकर अच्छे दाम बनाना चाहती है।"

"हूँ।"

"अभी दो-चार दिन का और काम है, फिर हमें भी पर्चा पकड़ा देगी। इन तंगी के दिनों में हमें भी घर-घर की धूल छाननी पड़ेगी।" कहता-कहता वह तार का बण्डल सम्भालने लगा। मुनुस्वामी ने दो आने उधार लेने चाहे, पर माँग न सका।

"क्यों भाई, बीड़ी दोगे ?" बिजलीवाले ने एक बीड़ी दे दी।

बीड़ी सुलगाकर वह दीवार के सहारे खड़ा होकर ट्राम-कार देखने लगा। उसके कानों में शायद उसकी खट-खट की ध्वनि भी आ रही थी। अधजली बीड़ी बुझाकर उसने जेब में रख ली।

साँझ होने पर पैर घसीटता-घसीटता घर चला गया। लड़की से बात करनी चाही पर उससे क्या कहता? उसका कुम्हलाया हुआ चेहरा देखकर उसने चुप रहना ही अच्छा समझा। खाली पेट सो रहा।

चार-पाँच दिन लगातार वह ट्राम-शैड जाता, वहीं घंटों खड़ा रहता पर भीख न माँग पाता। एक दिन वहीं खड़ा-खड़ा बेहोश गिर गया। पुलिसवाले ने देखा और बन्दूक कंधे पर रख लेफ्ट राईट करता इधर-उधर चलता रहा। आने-जानेवाले भी उसकी तरफ देखते और चले जाते। शहरों में तो परिचित होने पर ही परोपकार जगता है।

वह थोड़ी देर वैसे ही पड़ा रहा। कोई मैली-कुचैली औरत एक हँडिया में मांड लिए पास के रिक्शा-स्टैण्ड की ओर जा रही थी। उसने अपने पति को आवाज़ लगाई और पानी लाने के लिए कहा। पानी मुनुस्वामी के मुँह पर छिड़का। उसको होश आया। उसने कहा कि भूख लग रही है। उस औरत ने उसको मांड खिला दी। इतने में तमाशबीन भी इकट्ठे हो गये। और पुलिसवाला चिल्ला रहा था—"चलो-चलो, हटो-हटो।"

अगले दिन भी वह ट्राम-शैड के पास यथापूर्व खड़ा हो गया। थोड़ी देर में कम्पनी का इन्स्पेक्टर डाँटता-डपटता शैड से बाहर निकला। मुनुस्वामी को देखते ही उसकी आँखें अंगारे हो गईं।

वह पुलिसवाले से कह रहा था, "पुलिस-केस चलाओ। पाँच-छः कारों से बिजली के लट्टू गायब हैं। कई मशीनों से तो पीतल के हैण्डल चुरा लिए गये हैं। पकड़ो इन चोरों को······" वह कह ही रहा था कि मुनुस्वामी दूसरी तरफ देखने लगा।

"हो न हो इसी ने चुराये हैं।" पुलिसवाला मुनुस्वामी की ओर इशारा कर दिखा रहा था। सात-आठ दिन से यह यहीं मटरगश्ती कर रहा है।" पुलिसवाले मुनुस्वामी को स्टेशन के थाना ले गये।

मुनुस्वामी जानता था कि यह उन बिजलीवालों की करतूत थी। उनको नौकरी से तो हाथ धोना ही पड़ रहा था। जाते-जाते वे लट्टू-हैण्डल बेचकर कुछ पैसे बना लेना चाहते होंगे।

सब-इन्स्पेक्टर ने उससे पूछ-तलब किया, पर वह कुछ न बोला। डराया-धमकाया, उसके मुख से एक शब्द न निकला। ललचाया, फिर भी वह न बोला। शायद वह जानता था कि घर से जेल ही अच्छी है। कम-से-कम बिना भीख माँगे वहाँ खाना तो मिलेगा।

मुनुस्वामी पर केस चलाया गया। अदालत ने पूछा, "क्या तुमने चोरी की है?"

"हूँ......" मुनुस्वामी ने अदालत की ओर एक बार देखा, फिर चिथड़ों के नीचे चिपके हुए पेट को निहारा। सहसा उसके होंठ चपटे हो गये।

महीने की सजा मिली। वह मुस्करा दिया।

८

सीखचों के पीछे

जब कभी मैं अपनी खिड़की के सीखचों को पकड़कर खड़ा होता हूँ तो मुझे एक दृश्य याद आ जाता है। खिड़की से एक छोटी, गरीबों की वस्ती दीखती है——छोटे-छोटे, टूटे-फूटे झोंपड़े, कूड़ा-कर्कट, रोते-भिनकते बच्चे, चीखती-चिल्लाती मैले-कुचैले वस्त्र पहने स्त्रियाँ। मैं चौकन्ना हो जाता हूँ और सिगरेट सुलगाकर आराम-कुर्सी पर आ लेटता हूँ।

दृश्य कोई बहुत अजीब नहीं है। पर जिस हालत में मैंने उसे देखा, वह हालत ज़रूर अजीब थी। हम तब अलीपुर जेल में थे। सन् ४२ का सत्याग्रह ज़ोरों पर था। जेल में जत्थे-पर-जत्थे चले आ रहे थे।

मेरे साथ कोठरी में कृष्णमेनन था। आजकल वह पालघाट में बहुत नामी वकील हो गया है। तब रसोइया-सा लगता था। जेल में रसोई का काम भी करता था। अक्सर डींग मारता था कि उसने अपनी पत्नी को खाना पकाना सिखाया था। हो सकता है। मैं उसकी पत्नी से कभी मिला नहीं, इसलिए इस विषय में मुझे अधिक मालूम नहीं।

मैंने घण्टों उसको पत्नी की बातों पर हुँकारा दिया है। सीखचों से छनती चाँदनी में, अमावस की कालिमा में, गर्मी की लू में, वर्षा की वौछार में और सर्दी की ठण्डक में, पूरा एक साल मैने उसकी बातें सुनते-सुनते काटा है। और अब भी मुझे सन्तोष है कि अगर मैं उसकी रुमानी बातें न सुनता तो शायद वह नामी वकील न होकर पागलखाने में होता।

सन् ४० के अन्त में उसकी शादी हुई थी। रस्मो-रिवाज की कुछ ऐसी पाबन्दी थी कि वह महीनों पत्नी से न मिल पाया। फिर कोई पाँच महीने

ही पत्नी के साथ रह पाया था कि पुलिसवालों ने दो साल की सख्त सजा दिलाकर अलीपुर भेज दिया।

उसकी हालत एक शराबी की-सी थी जिसने एक प्याला पी लिया हो और दूसरा भरकर सामने रखते ही हटा लिया गया हो। आँखें भरे प्याले पर रहने दी गई हों और हाथ जकड़ दिए गये हों। मैंने तब पहली बार समझा, हाथी मदमस्त होते हैं तो क्यों होते हैं ?

मैं तो बहुत दूर भटक गया। सिगरेट का नशा भी बुरा है। धुएँ की तरह दिमाग भी न जाने कहाँ-कहाँ की उड़ान लेता है !

हाँ, तो मैं कह रहा था हमारी कोठरी के एक ओर बड़े-बड़े सीखचे थे। बाद में हरी घास भरा खाली मैदान, फिर जेल की ऊँची दीवार, जेल की दुनिया की अभेद्य सीमा।

ऋतु का कुछ ख्याल नहीं। शायद सर्दियाँ खतम हो रही थीं। दोपहर होते-होते हमारे सामनेवाले मैदान में रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहने घसियारिनें घास काटने के लिए इकट्ठी हो गयीं। एक वार्डर उनकी निगरानी कर रहा था। लगभग छः महीने बाद हम स्त्री की सूरत देख रहे थे। कृष्णमेनन तो सीखचों से ही चिपका रहा। वह किसी ख्याल में खोया हुआ था।

वे स्त्रियाँ एक तरफ से घास उखाड़ती जाती थीं और उनके पीछे-पीछे कैदी मिट्टी ठीक करते जाते थे। वे कतार में बैठे थे। नटेशन भी उनमें था। पाँच-छः वार्डर उनके आगे-पीछे खड़े थे। यह कोई खास बात न थी। मैं गीता-पाठ कर रहा था।

कृष्णमेनन मलयालम में कोई गाना गुनगुनाने लगा। दूर से उन घसियारिनों की भी आवाज आ रही थी। उनके कर्कश स्वर में भी तब मुझे स्त्री-सुलभ मृदुता दीखी।

नटेशन ने एक मिट्टी का ढेला उठाया और न जाने क्यों एक घसियारिन पर फेंक दिया। वह तिलमिलाती हुई पीछे मुड़ी और कुछ बड़बड़ाने लगी। नटेशन मुस्करा दिया। उसकी मुस्कराहट वार्डर ने भी देख ली।

"क्यों बे, मसखरी मत कर, ठीक तरह काम कर, नहीं तो " वार्डर

अपना डण्डा दिखाता हुआ कह रहा था; और नटेशन आँखें फाड़-फाड़कर उसकी तरफ देख रहा था।

"जबान सँभालकर बात करो। गाली देने का तुम्हें कोई हक नहीं है," नटेशन कह रहा था।

"तो क्या उस लड़की पर ढेले फेंकने का तुझे हक है? ज्यादा बक-बक मत कर, नहीं तो कहे देता हूँ, पैरों में फिर बेड़ी डाल दी जायगी।"

"मैंने कब लड़की पर ढेला फेंका?"

"अबे, झूठ न बोल। गधे! बुरी तरह मरम्मत कर दी जायगी।"

"गाली मत दे, वरना···"

"वरना, वरना···क्या···"

"जरा सँभलकर बात कर।"

"अबे! ज्यादा बक-बक मत कर नहीं तो सारी ऐंठ निकालनी पड़ जायगी।"

"फिर वही।"

"अबे, तूने समझ क्या रखा है? जेल है या तेरे बाप का घर, हराम-जादे!"

"पता लग जायगा···गाली मत दो · वरना···"

नम्बियार अपनी लाठी उठाकर नटेशन के पास गुस्से में गया, "अबे, कर जबान बन्द, नहीं तो सीटी बजा दूँगा। पाँच-छ महीने से कम की सजा नहीं ठुकेगी।" नटेशन वार्डर की लाठी को रोककर मरोड़ रहा था। वार्डर सीटी देने को ही था कि कृष्णमेनन जोर से चिल्ला पड़ा, "रहने दो नम्बियार, सीटी मत बजाओ।" वार्डर मेनन की बात मान गया और सीटी निकाल-कर जेब में रख ली। नटेशन भी खुरपी लेकर काम करने लगा।

मेनन और नम्बियार की अच्छी पटती थी। दोनों मलाबार के थे। मेनन की कृपा समझिये कि नम्बियार के घर चावल, दाल, वगैरह नहीं खरीदना पड़ता था। मेनन उनको कैदियों के राशन से ही उपलब्ध कर देता था। यह जेल की परम्परा थी। नम्बियार के नाम कैदी रुपये मँगाते थे और वह बीड़ी-

सिगरेट तक टोपी के नीचे रखकर भीतर कैदियों के लिये ले आता था।

"देखा, फिर वही बात हुई।" मेनन ने मेरी तरफ मुस्कराते हुए कहा। वह मुझे कुछ याद दिलाने की कोशिश कर रहा था और वह घटना भी ऐसी है कि मैं भूल नहीं पाता हूँ। नहीं मालूम, कहना चाहिए कि न कहना चाहिए। खैर, कहे ही देता हूँ।

मैं तब जेल में नया-नया आया था। मेनन तभी रसोइया बना था। वार्डरों पर उसकी धाक थी। मेरे साथ आये हुए कुछ लोग सी० क्लास में थे। हमारा एक साथी मल्लिखार्जुनराव तभी बुखार से उठा था। बहुत कमजोर था। हमने बाहर से दो-चार सन्तरे मँगा लिये थे। मैं अपने एक दोस्त के द्वारा उनको मल्लिखार्जुनराव के पास पहुँचा रहा था कि नम्बियार ने मुझे देख लिया। कहने लगा, "क्यों बे, मालूम है, यह कानून के खिलाफ है।"

मैं उबल पड़ा, "अबे! जरा जबान सँभालकर बोल। अपने कानून-वानून को अपने पास ही रख।"

"यह जेल है, तूने समझा क्या है?"

"यह तू-तू क्या कर रखी है, ठीक तरह बात कर।"

कहते-कहते मैंने उसका कॉलर जोर से पकड़ लिया। वह सीटी बजाने वाला ही था कि मेनन हम दोनों के बीच में आ गया। उसके कहने पर नम्बियार ने सीटी नहीं बजायी। मेरा और कृष्णमेनन का तभी परिचय हुआ।

"न जाने उस दिन तुम्हारी क्या दशा होती। हड्डी-पसली एक कर देते। सीटी बजते ही ये सब-के-सब वार्डर गिद्धों की तरह लपकते हैं। बेचारे नटेशन का तो आज भुरता बना देते," मेनन कहते-कहते बैठ गया और तकिये के नीचे से अधजली बीड़ी निकालकर पीने लगा। जब तक घसियारिनें वहाँ रहीं, वहीं बैठा रहा। कई बार तकिये के नीचे से अपनी पत्नी का फोटो निकाला और एकटक उसे देखता रहा। रात-भर नहीं सोया और न मुझको ही सोने दिया।

बाहर चाँदनी, भीनी-भीनी हवा, चौंका देनेवाले वार्डर के जूतों का टप-

टप शब्द । और कृष्णमेनन अपने सपनों और स्मृतियों को बातों में बन्द कर गुब्बारों की तरह उड़ाता जाता था। अगर आस-पास कोई मन्दिर होता और जाने की मनाही न होती तो मुझे अविवाहित रखने के लिए भगवान् पर दो-चार नारियल चढ़ा आता।

खिड़की से बाहर जो बेढंगी झोंपड़ियाँ हैं, वैसी किसी झोंपड़ी में ही शायद नटेशन कभी रहता होगा। पर घर तो घर ही है चाहे वह झोंपड़ी में हो, या पेड़ के नीचे, या महल में। यदि उसकी किस्मत की लकीर सीधी होती तो वह भी आज घर-बारवाला होता।

मैंने कहने को तो बहुत-कुछ कह दिया। पर जो कहना चाहता था अभी तक वह न कह पाया। काश, आदमी अपनी विचार-तरंगों को लगाम दे पाता! जब तरंग आती है तो कितनी ही तरंगें उस पर लुढ़कती-लुढ़कती जमा हो जाती हैं। और फिर होठों में सिगरेट हो तो ऐसा लगता है जैसे झरने के नीचे सिर दे दिया हो। विचारों की धार-सी बँध जाती है। अच्छा सिगरेट फेंक देता हूँ और सीधे अपनी बात पर आता हूँ।

नटेशन और हमारा परिचय काफ़ी पुराना था। वह अक्सर हमारी कोठरी में किसी-न-किसी बहाने आ ही जाता था। वह बी० क्लास के बैरक में काम पर भेजा जाता था। कृष्ण से तो उसकी अच्छी-खासी घनिष्ठता थी। कृष्ण तो कभी-कभी उसे दो-चार अधजली बीड़ियाँ देकर अपने कपड़े भी धुलवा लिया करता था। सुराहियों में पानी भर लाता, कोठरी साफ करता और कभी-कभी कृष्ण के पाँव भी दबाता। उस समय खूब गप्पें मारता।

नटेशन ठीक तरह बात न कर पाता था। आवाज की बजाय उसके गले से हवा ज्यादा निकलती थी। फिर भी उसकी गप्पों की आदत थी और हर वक्त कुछ-न-कुछ सुनाता ही रहता था।

एकहरा, काला बदन, ऊँचा कद, शरीर पर हड्डियाँ-ही-हड्डियाँ रह गई थीं। जब उन पर माँस की अच्छी परत रही होगी, तब वह ज़रूर एक खूब-सूरत, तगड़ा नौजवान रहा होगा। उसकी उम्र तब भी कोई तीस की थी,

पर वाल खिचड़ी हो गये थे। चेहरे की खुश्क चमड़ी में शिकनें पड़ गई थीं। जेल ने उसे अधेड़ वना दिया था।

गले में एक छेद था। उसमें से टीन की नली चिमनी की तरह निकली हुई थी। वह उस नली को निकालकर ऐसे साफ कर लेता था जैसे लोग अपने नकली दाँतों को कर लेते हैं। उसी नली में से उसके फेफड़ों को हवा पहुँचती थी। जब कभी वह वोलना चाहता तो उसे बन्द कर देता और उसकी आवाज़ बाहर आती। गले के चारों ओर एक बहुत बड़ा दाग था। उसको देखकर दया आती थी।

एक दिन दोपहर को वह अपनी राम-कहानी सुना रहा था। अपने ही ढंग से। कृष्ण मुँह बंद कर ऊँह-ऊँह कर रहा था।

"उस साले को तो मैंने जहन्नुम पहुँचा दिया। अब यह बाकी है। इसे भी वहीं पहुँचाकर दम लूँगा। औरत भी बुरी बला है। विश्वास करो तब आफत, न करो तब आफत!" नटेशन कह रहा था। कृष्ण ने मेरी तरफ घूरा, जैसे उनको नटेशन की बात पर विश्वास न हो और उसे पागल समझ रहा हो।

नटेशन बीस बरस की सज़ा भुगत रहा था। अगर युद्ध न चल रहा होता तो अन्डेमन भेज दिया जाता। नटेशन कह रहा था, "एक औरत ने मेरी जिन्दगी चौपट कर दी। उसने मुझे तबाह कर दिया और मैं उसको तबाह कर दूँगा। बीस वर्ष तो यों गुजरते हैं, फिर देखिये वह औरत कहाँ होती है?"

"आखिर बात क्या थी, वह तो बताओ?" मैंने कहा।

"आप वकील हैं," नटेशन कृष्ण से कह रहा था, "आप ही बताइये, इसमें कौन-सा न्याय है? कानून कानून करते हैं। मगर कानून पहले है कि इन्सानियत। जो इन्सानियत की नज़र में बहादुरी का काम है, वह कानून की नज़र में गुनाह है। आप ही बताइये।" कृष्ण चुप था। "मुझे कानून ने तबाह किया है और मैं कानून को तबाह करूँगा। यह जान भी कौन-सी अच्छी है? उस दिन ही अगर इस दुनिया से कूच कर गया होता तो अच्छा

था। अब चूँकि ज़िन्दा हूँ तो कसम पूरी करके जाऊँगा। जान का बदला जान से लूँगा। मेरा एक पैर तो जहन्नुम में है ही, उसे भी खींच मरूँगा।" नटेशन कहता ही रहा।

"ऐसी कसमें नहीं खाते," मैंने समझाते हुए कहा।

"माफ कीजिये, अगर आपको भी ऐसी ही जिन्दगी में से गुज़रना पड़ जाये ···बुरा न मानिये, तब आप भी हम जैसी ही क़समें खा रहे होंगे।" नटेशन ने हिचकते-हिचकते कहा।

"तुम तो ललकारते रह गये। अपनी जिन्दगी तो सुनाओ," कृष्ण ने कहा।

"हम लोगों की ज़िन्दगी भी क्या ज़िन्दगी है। जब से पैदा होते हैं तब से मौत तक घुन की तरह चक्की में पिसते हैं। हम मद्रास शहर में रहते थे, तेनापेट में। एक नारियल के बाग में पाँच-दस झोंपड़ियाँ थीं। वही हमारा मोहल्ला था। जब मैं सात साल का था तो पिता गाड़ी खींचते-खींचते अचानक मर गये। माँ भी अगले साल चल बसी। मैं अकेला पंछी की तरह रह गया। आवारागर्दी करता था।

"हमारे घर के पास बड़े-बड़े बंगले थे और आधा मील दूर अडयार क्लब था। बँगलों में साहब लोग रहते थे। उनके घर में टेनिस-कोर्ट था। रोज़ उनके यहाँ चला जाता और टेनिस की बॉल इधर से उधर देने का काम करता—यानी 'पिकर' का। मुझे टेनिस में दिलचस्पी हो गई। धीरे-धीरे खेलने भी लगा। साहब के बच्चों को टेनिस सिखाने लगा। होते-होते मार्कर हो गया; और साहब की मेहरबानी से क्लब में मार्कर की नौकरी भी मिल गई। चार पैसे कमाने लगा। एक-दो मार्करस टूर्नामेण्ट भी जीते। साहबों की सोहबत में थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी बोलना भी आ गया था।

"तब मैंने शादी कर ली। वह भी मेरे जैसी ही गरीब थी। शाक-सब्ज़ी बेचकर उसका परिवार गुजारा कर रहा था। हमने तीन-चार साल बड़े आराम से बिताये। घर के क्या अर्थ होते हैं, यह मैं छुटपन में ही भूल गया था। शादी करने के बाद ही मुझे घर का अर्थ समझ में आया। मेरी नौकरी

थी ही। मैंने उसके काम पर जाने से भी मना कर दिया। जल्दी ही मैं एक लड़की का बाप भी बन गया।

"लोगों ने मुझे बहुत-कुछ कहा। कई ने इशारा किया कि पत्नी को अकेला घर में छोड़ना अच्छा नहीं है। लोगों को मेरी पत्नी के बारे में शक था। पर मैंने परवाह न की। अच्छे-भले कुटुम्ब पर कीचड़ उछालने की हर किसी ईर्ष्यालु की इच्छा होती है। मगर अच्छा होता मैं उनकी बातें सुन लेता।

"कभी-कभी मुझे सवेरे से शाम तक क्लब में रहना पड़ता। कोई-न-कोई साहब आ ही जाता। मेरी पत्नी ही पिछवाड़े से आकर मुझे पास की नदी के किनारे, पेड़ की छाँह में खाना खिला देती। मेरा एक मित्र गोविन्द बावर्ची भी था। इसी बदमाश बावर्ची ने मेरा फूल-सा परिवार कुचल दिया।

"मुझे वह खूब खाना दिया करता। मैं पेट-भर तो वहाँ खाता ही, घर भी ले जाता। मेरे साथ-साथ उसकी जान-पहचान मेरी पत्नी से भी बढ़ती गयी। लोगों के कहने पर मैं लुक-छिपकर घर देखने भी गया। मगर पत्नी अकेली थी। जब तक सबूत न हो, तब तक कुछ न करना ही अच्छा है। मुझे विश्वास न हुआ। इसी सन्देह में दो-चार साल बीत गये।

"एक दिन दो-तीन बजे के करीब बावर्ची ने मुझे खूब खिलाया। मुझे शाम को काम कम था। नदी में 'रिगेटा' हो रही थी। सब वहीं गये हुए थे। मैं भी आराम से घर पहुँचा। देखता क्या हूँ घर का दरवाज़ा बन्द है। मैंने दरवाजा खटखटाया, किसी ने खोला नहीं। छोटी-सी झोंपड़ी और टूटा-फूटा दरवाज़ा, लात मारी और वह टूट गया। वह बावर्ची और मेरी पत्नी अन्दर थे। मेरे पास एक छोटा-सा गंडासा था। बावर्ची को वहीं ढेर कर दिया। पत्नी पर भी एक मारा। इतने में पड़ोस से लड़की भी भागती-भागती आ गयी। उसका भी काम तमाम कर दिया। यह सब मैं न देख सका, फिर मैंने अपने गले पर ही गंडासा मारा।

"हम दोनों अस्पताल ले जाये गये। लड़की और बावर्ची तो वहीं खत्म

हो गये। हम दोनों अभी जिन्दा हैं।" नटेशन ने अपने गले की नली ठीक की और कहने लगा, "फिर महीनों मुकदमे-बाजी हुई। पहले तो फाँसी का हुक्म दिया गया। बाद में अपील पर काले पानी की सजा हुई। अब आप ही बताइये इसमें मेरा क्या कसूर है? उस बावर्ची ने काम ही ऐसा किया था कि वह जीने लायक न था। अब इस औरत को भी देख लूंगा। बस, इसीलिए जी रहा हूँ। औरत बुरी बला है।" नटेशन चेहरे का पसीना पोंछने लगा, "एक बीड़ी तो दीजिये। वक्त हो रहा है, नहीं तो वह नम्बियार फिर आ मरेगा। मुझे जाने दीजिये।" उसके तने चेहरे पर हलकी-सी मुस्कराहट आ गयी, जैसे कोई भार हल्का हो गया हो।

"जब औरत से तुम्हें इतनी नफरत है तो उस दिन घसियारिन पर ढेले क्यों फेंके थे?" मैंने हँसते हुए पूछा।

"फेंक तो दिये थे, बाबू जी, पर बाद में वह हरकत मुझे कुछ ऐसी चुभी कि अब भी पछताता हूँ। गल्ती हो गई। अपने को रोक न सका। अभी है न जवानी?" वह हाथ मलता-मलता बैरक से बाहर चला गया।

फिर कई दिनों बाद कृष्ण ने नटेशन को कोठरी में सफाई करने के लिए बुलाया। कृष्ण जेल में पुत्रोत्सव मना रहा था। नम्बियार के द्वारा काफी फूल-फल बाहर से मँगा लिये गये थे। वह फूला न समाता था। रह-रहकर कृष्ण अपनी पत्नी और पुत्र का फोटो देखता और खुशी के मारे उसके आँसू बहने लगते।

नटेशन हाथ में एक चिट्ठी लेकर आया। वह कह रहा था, "बहुत घसीट-घसीटकर किसी ने लिखा है। मेरी समझ में नहीं आ रहा है। जरा इसे पढ़ तो दीजिये।"

"अरे, पहले बैठ। चिट्ठी पढ़ने के लिए बहुत समय है। पहले तू कुछ खा। हमारे घर लड़का पैदा हुआ है।"

खाने के बाद कृष्ण ने बताया कि किसी शन्मुखम् ने चिट्ठी लिखी है।

"हाँ-हाँ, वह तो मेरा दोस्त है। क्या लिखा है?"

"लिखता है कि तुम्हारी पत्नी का अस्पताल में देहान्त हो गया है।

वह वहाँ प्रसव के लिए गयी थी।"

"प्रसव के लिए ?"

"हाँ।"

"देखा, वह कैसी कुलटा है। उसे तो मेरे हाथों मरना चाहिए था। गली-गली झख मारती फिरी होगी। उस जैसी का अस्पताल में मरना अच्छा नहीं। उसको तो मेरे हाथ से सजा मिलनी चाहिए थी।"

"अब भगवान् ने दे दी।"

"उसको मारने की ही मेरी एक इच्छा थी। भगवान् ने वह भी न पूरी होने दी।" वह उदास अपनी कोठरी में चला गया।

अगले दिन सवेरे हमने सुना कि उसने अपने गले की नली निकालकर मामूली तौलिये से अपना गला घोंट लिया।

६

फिसलते-फिसलते…

मैं उस मोहल्ले में नया आया था। नया शहर, नया वातावरण। न कोई दोस्त, न जानने-पहचाननेवाला। नौकरी के पीछे जीभ लटकाये आ गया था। भाग्य की आजमाइश थी।

अजनबी को देखकर मनुष्य कुत्तों की तरह भोंकते तो नहीं हैं, पर उससे ऐसा बचते हैं, जैसे कोई काँटे की झाड़ी हो। सभ्यता भी अपरिचित की मदद नहीं करती। परिचय होने पर ही वह गजब ढाती है। खैर।

छोटा-सा मकान। दो कमरे, बाहर सीखचोंवाला तंग बरामदा। ऊपर खपरैल। पिछवाड़े में रसोई; आँगन में एक ओर ईंट-पत्थर का ढेर, दूसरी ओर आँसू बहाता पतला नल। दीवार से सटा निबोली से लदा नीम का पेड़। यह था मेरा बसेरा। किराया पच्चीस रुपये।

दस बजे से पाँच बजे तक मेरी कुर्सी तोड़ने की नौकरी है। कामदिलाऊ दफ्तर में काम करता हूँ। सवेरे से शाम तक रोजी-रोटी के लिए मुँह बाये हुए भूखे नंगों की खड़ी पंक्तियाँ देखता हूँ। फार्म भरता हूँ। भगवान जाने उनको काम मिलता है कि नहीं। मुझे तो दो वर्ष की बेरोजगारी के बाद नौकरी मिल गयी है, पिचासी रुपये वेतन। भगवान को लाख-लाख धन्य-वाद।

शादी-शुदा हूँ। पत्नी धमकी दे रही है कि बच्चोंवाला भी होने जा रहा हूँ। बच्चोंवाला बनूँ या न बनूँ, मुझे फिलहाल उसको मायके भेजने का बहाना जरूर मिल गया है। पैसे की तंगी। फिर ऊपर से बीवी की इल्लत। अकेला रहता हूँ। रात में चमगादड़ों से बातें करता हूँ। सवेरे पास के वाच-

नालय में जा अखबारों में नौकरी के इश्तहारों को पढ़ता हूँ।

जब दफ्तर के दरवाजे बन्द होते हैं मेरे सामने वक्त पहाड़ की तरह खड़ा हो जाता है। इतने पैसे नहीं कि सिनेमा देखूँ। कोई ऐसा शौकीन भी नहीं हूँ कि खेल के मैदान में निकर बाँधकर उतर पड़ूँ। मटरगश्ती की भी आदत नहीं। यार-दोस्त भी नहीं हैं। वक्त काटना मुश्किल है।

अक्सर घर पैदल चल देता हूँ। दो-ढाई मील का फासला घूमते-फिरते दो-ढाई घंटे में तय करता हूँ। वक्त भी कट जाता है; पैसे भी बच जाते हैं। कसरत की कसरत अलग। शहर में आये हुए दो महीने हो गये हैं, और मकान मिले एक महीना। इस महीने भर से ठीक मैं ऐसा ही करता आया हूँ।

यूँ तो दफ्तर में मुझे कई लोगों से मिलने का मौका मिलता है—पर मेरा उन लोगों से मिलना शायद वैसा ही होता है जैसा कि डाक्टर का रोगियों से मिलना। डाक्टर का वह पेशा है, और मेरी यह नौकरी। उन सबकी अपनी-अपनी गमभरी कहानी है। पर मैं दिलचस्पी नहीं ले पाता; मेरा दिल पथरा-सा गया है।

आज शाम को चार बजे के करीब दफ्तर में अजीब घटना घटी। याद करके अब भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एक पतली-दुबली औरत आयी। रूखे-सूखे बिखरे बाल, मुरझाया हुआ खुश्क चेहरा, मैले-कुचैले कपड़े। लम्बा कद। किसी आफत में थी। चेहरा पसीने से तर-बतर था। बड़ी-बड़ी आँखें शीशे की-सी लगती थीं।

मेरे पास आकर हड़बड़ाते हुए पूछा, "कोई नौकरी मिल सकेगी ? क्या कहीं कोई नौकरी खाली है ?"

मैंने स्त्री को ऊपर से नीचे तक देखा—वह एक पेड़-जैसी लगती था जिस पर कभी वसन्त महका हो; मगर अब पतझड़ में झुलसी हुई हो। उसका चेहरा अब भी अच्छे दिनों का साक्षी था। मैंने खुद पाला-पतझड़ सहा है। दूसरों की तकलीफ को ताड़ लेता हूँ। मुझे कष्टों ने और कुछ दिया हो या न दिया हो, यह दिव्य दृष्टि जरूर दी है।

फिर भी मैंने रुखाई से कहा, "यहाँ तो नौकरी नहीं दी जाती सिर्फ नौकरी के लिए नाम दर्ज किया जाता है।"

"यानी नौकरी···" वह महिला हिचकती-हिचकती कुछ कहना चाहती थी कि मैं ही कह बैठा, "नौकरी मिलने से पहले यह जरूरी है कि आप अपना नाम दर्ज करा लें, कहीं नौकरी खाली हुई तो आपको बाकायदा इत्तिला दे दी जायगी। आपका नाम ?"

"फरीदा।"

"मुसलमान हैं ?"

"नहीं, ईसाई।"

"शादी···?" मेरी नजर जो उसके चेहरे पर पड़ी तो मैं अपना सवाल पूरा न कर सका। उस महिला की आँखों में से आँसू निकल रहे थे। दो क्षण चुप रही।

"मैं विधवा हूँ।"

"उम्र ?"

"इकत्तीस।"

"पहले कभी काम किया था ?"

"नहीं।"

"कहाँ तक पढ़ी-लिखी हो ?"

"मैट्रिक पास की है—सिलाई वगैरह का काम भी जानती हूँ।"

"कैसा काम चाहती हो ?"

"किसी दफ्तर में···"

"सभी दफ्तरों में नौकरी चाहते हैं; और दफ्तर ऐसे ठसाठस भरे हुए हैं कि महीनों की इन्तजारी करो तब भी खाली जगह की कोई गुंजाइश नजर नहीं आती।"

"मेरा मतलब है, मैं कोई भी काम करने के लिए तैयार हूँ। छोटे बच्चों को पढ़ा-लिखा भी सकती हूँ।"

"खैर···"

"और कुछ न मिले तो मैं आया तक बनने को तैयार हूँ। बहुत तक-लीफ है। कुछ-न-कुछ कहीं-न-कहीं तो दिलवाइये।"

"मैं तो सिर्फ आपका नाम ही दर्ज कर सकता हूँ," मैंने अपनी लाचारी दिखाते हुए कहा, "अच्छा है अगर आप ऑफिसर से मिलें। मुमकिन है वह आपकी कुछ मदद करें।"

वह महिला अन्दर जाकर ऑफिसर से बातचीत करने लगी, और मैं अपनी फाइलें बाँधने लगा। पाँच बजने को हो रहे थे। दुनिया को नौकरी मिले या न मिले, हम अपने वक्त के बड़े पाबन्द हैं। मैं उठा, कपड़े वगैरह ठीक करने लगा। कोट पहना और छाता लेकर सहन में खड़ा हो गया। लोगों का जमघट अब भी वहाँ था। घड़ी में पाँच बजे और मैं छाता हिलाता बाहर निकल गया।

फाटक के पास गया ही था कि वह महिला भी मेरे बगल में चलने लगी।

"ऑफिसर ने क्या कहा?" मैंने पूछा।

"कहते हैं अगर कहीं खाली हुई तो जरूर कुछ-न-कुछ दिलवा देंगे। यह तो ये लोग कहेंगे ही अगर आपकी मेहरबानी रही तो काम शायद जल्दी ही मिल जाय।" वह मेरे साथ चलती जाती थी।

"आप किधर जा रही हैं?" मैंने कुछ हिचकते हुए पूछा।

"घर। आपका घर कहाँ हैं?"

"कोड़म्बाकम।"

"हम भी वहीं रहते हैं। आप पैदल जाइयेगा?"

"हाँ, मैं रोज पैदल ही जाता हूँ। घूमने का घूमना हो जाता है।"

"यहाँ तो बुरी नौबत आयी हुई है। पैदल आयी थी, पैदल जा रही हूँ।" उस महिला ने कहा। हम दोनों चलते जाते थे। कुछ देर तक तो चुप रहे। फिर मैंने ही साहस करके पूछा—"आपका नाम तो मुसलमानी लगता है।"

"हाँ, बुजुर्ग मुसलमान थे। दो-तीन पुश्तों से हम लोग ईसाई हैं।"

वह मेरे मुहल्ले की थी। और मेरी जान-पहचानवाला भी कोई न था। इच्छा हुई कि उससे परिचय बढ़ा लूँ। कम-से-कम वक्त काटने में तो

मदद मिलेगी। पत्नी मैके में है। यहाँ औरतों से बात किए हुए अर्सा हो गया है। अगर उससे बातचीत करने के लिए जीभ खुजला रही थी तो भला मेरा इसमें क्या कसूर ?

"तो क्या आप मद्रास की रहनेवाली हैं ?"

"पैदाइश तो हैदराबाद की है। यहाँ मेरे···" वह कुछ हिचकती हुई लगती थी—"मेरे···मेरे रिश्तेदार रहते हैं। फिल्मों में काम करते हैं।" वह इधर-उधर देखने लगी, जैसे कुछ झूठ बोल दिया हो।

"फिल्मवालों को तो खूब रुपया मिलता है।"

"इने-गिनों को, बाकियों को तो अक्सर फाका करना पड़ता है। आप यहाँ कितने सालों से हैं ?"

"मुझे आये हुए तो अभी दो महीने हुए हैं। एक महीने से कोडम्बाकम में ही रह रहा हूँ। इससे पहले विजयवाड़ा में था।"

"आपके ऑफिसर कैसे आदमी हैं ?"

"अच्छे मिज़ाज के समझे जाते हैं। बच्चोंवाला घर है। सुनते हैं घूस लेने की लत है—मगर आप किसी से कहिये मत। कुछ दे दीजिये, जल्दी काम बन जाएगा ?"

"देने की ताकत होती तो भला पैदल ही क्यों आती ! खैर।"

वह बेचारी लड़खड़ाती हुई चल रही थी। थक गयी थी। मेरे ख्याल भी धीमे-धीमे उसके बारे में बदल रहे थे। आखिर वह रही औरत और मैं ठहरा आदमी। मैंने झिझकते हुए कहा, "बस का वक्त हो गया है। आइये, बस में चलें। यह फालतू तकलीफ काहे को ? पैसे के बारे में फिक्र मत कीजिये।"

हम दोनों बस के लिए खड़े हो गये। न जाने क्यों उस महिला की मेरे बारे में दिलचस्पी बढ़ती जाती थी। उसने पूछा, "आप तो बाल-बच्चोंवाले होंगे ?"

"शादी-शुदा जरूर हूँ, मगर अभी बच्चोंवाला नहीं हुआ हूँ। पत्नी फिलहाल मायके में है।"

"आप तो अच्छे पढ़े-लिखे हैं—दस-पाँच आदमियों को जानते-पहचानते हैं। कहीं तो कुछ नौकरी दिलवा दीजिये। मुसीबत में हूँ।" महिला ने फिर अपना रोना शुरू किया।

"होने को तो ग्रेजुएट हूँ—मगर सिवाय अपने दफ्तर के पाँच-दस क्लर्कों के और मैं किसी को नहीं जानता। सब्र रखिये। सब ठीक हो जाएगा।" मैंने वही बात दोहरायी, जो बड़े-बूढ़े मुसीबतों के दिनों में मुझसे कहा करते थे। न जाने बातों का रुख क्या होता, गनीमत कि इस बीच बस आ गयी और हम दोनों मुँह पर ताला लगाकर बस में सवार हो गये।

कोडम्बाकम में उतरे। इत्तफाक की बात यह कि वह भी उसी बस स्टैण्ड पर उतरी और मेरे साथ-साथ चलने लगी। हम गली में चलते जाते थे। उसने पूछा—"आपका घर कहाँ है?"

"यहीं गली के अन्त में—वही जो सामने दिखाई दे रहा है—नारियल के बाग के इस तरफ।"

"ओह! तब तो आप हमारे घर के इतने पास हैं? हमारा घर भी यहीं है। शुक्रिया।"

वह महिला एक छोटे-से खपरैल के मकान का फाटक खोलने लगी। यही उसका घर था। छोटा-सा अहाता। मकान के बरामदे में एक युवती बैठी हुई थी—गोरा, गोल-मटोल चेहरा, घुँघराले बाल। मुसकराते होंठ। मदमाती आँखें। बैंगनी साड़ी। बहुत ही सुन्दर। आँखें जो एक बार उस पर पड़ीं तो गड़ी-सी रह गयीं। उसकी मुसकराहट ने तो मेरे मन को मथ ही दिया।

मुझे अचल वहाँ खड़ा देख उस महिला ने कहा, "यह मेरी बहन है। कभी मिलिये।" मैं छतरी घुमाता हुआ निकल गया। सोच रहा था कि शायद फिल्मों में काम करती होगी। कोडम्बाकम तो फिल्मी कलाकारों का अड्डा है।

रात जैसे-तैसे कटी। सवेरे वाचनालय जाते समय वह युवती दरवाज़े में खड़ी हुई थी। चेहरे पर वही मुसकराहट, वही इन्तज़ारी। ऐसा लगा

जैसे मुझे आने का संकेत कर रही हो। मैं हिम्मत न कर सका। पर मन बिंध गया था। मैं ज़ख्मी-सा अनुभव कर रहा था। अखबारों में उसकी शक्ल दिखाई देने लगी। दफ्तर के फार्मों में भी वही मुसकराता चेहरा भँवरें खाता-सा लगता।

मैं आपसे यह कह दूँ कि न मैं मोम का बना हुआ हूँ, न योगी ही हूँ। मुझमें भी हाड़-मांस है। भले ही मुझे ज़िन्दगी में भूलने-भटकने का मौका न मिला हो, मगर एक लीक पर चलना भी मैं बड़प्पन की कोई निशानी नहीं समझता। शहरी दुनिया में अगर दिल जरा बेलगाम हो जाता है तो पश्चात्ताप में मैं पीला नहीं होना चाहता।

मैं सोच रहा था जब दूसरों के खेतों में चरने का मौका मिला है तो भला क्यों चूका जाय। बड़े-बड़े महर्षियों ने वह गलती की है, जिसको करने में मैं कान पकड़े हुए था। आखिर मेरी ज़िन्दगी क्या है? सवेरे से शाम तक फार्म पर फार्म भरना। मुझे भी तो मनोरंजन का हक है।

मैं उस दिन फिर बस से चला आया। पैदल जाता तो घर पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो जाता, और उस युवती को देख न पाता। मैं भी मुसकराता हुआ उस मकान के पास से गुज़रा। वह युवती मूर्ति की तरह मुसकराती हुई सीढ़ियों पर बैठी हुई थी। मन में ज्वार-सा आ गया। कोई चीज़ खींचती-सी लगती, और कोई रोकती-सी। यकीन मानिये करवटें बदलते-बदलते रात काट दी। मुझ पर जादू-सा लग गया था।

सवेरे उठा। अच्छे कपड़े पहनकर तैयार हो गया। अखबार पढ़ने की मर्ज़ी तो नहीं थी, फिर भी चल पड़ा। उस युवती को देखने के लिए रात-भर तड़प जो रहा था। मकान के पास गया तो मफलर लिए बरामदे में खम्भे के सहारे बैठी हुई थी—प्रोफाइल दिख रही थी—लम्बी नाक, उभरे गाल, पतले होंठ। चेहरे पर वही परिचित मुसकराहट। न जाने क्यों, जब मैं उस तरफ से गुज़र रहा था, वह सड़क की ओर मुड़ी। ऐसा लगा जैसे मुझे बुला रही हो।

मद्रास में तो जाड़ा ऐसा खास न था, फिर वह मफलर लिए क्यों बैठी

हुई थी ? शायद तबीयत खराब है ? बेचारी गरीबी के दिन काट रही है। दवा-दारू के लिए भी पैसे न होंगे। मर्जी हुई कि जाकर उसकी मदद करूँ, पर हिम्मत न हुई।

मैं वाचनालय तक गया, बिना अखबार पढ़े ही वापस चला आया। वह मुसकराती हुई ठीक उसी जगह बैठी हुई थी। मैंने सोचा गरीबी है—और गरीब स्त्रियाँ जब जीना चाहती हैं और जीना जानती नहीं हैं, उनके बिगड़ने में देर नहीं लगती। मैंने अपने को समझाया—बाजारू स्त्रियों के जादू में पड़ना खतरनाक है। पत्नी है, अच्छा घरबार है, सब-कुछ तबाह हो जायगा। पर न जाने क्यों उसका नशा चढ़ता जाता था। मैं दो-चार बार उस गली में आवारागर्दी करता रहा। वह मुसकराती वहीं बैठी रही। कभी मुझ पर देखती तो कभी नज़र नीची कर लेती। मुसकराहट बनी रहती।

दफ्तर का वक्त हो गया। काम बहुत था। लोगों की भीड़ भी काफी थी। पर काम में मन नहीं लगता था। सारा ध्यान उस युवती पर था। पत्नी की चिट्ठी आयी हुई थी, उसका जवाब भी न दे सका। मेरी अजीब हालत थी। जान-बूझकर गढ़े में कूदने के लिए उतावला हो रहा था।

फिर संयोगवश एक और बात हो गयी। किसी अंग्रेज़ी परिवार को पढ़ी-लिखी आया की ज़रूरत थी। तनख्वाह भी अच्छी-खासी थी। मुझे झट फरीदा का ख्याल आया। न जाने वक्त कैसे कट गया। अभी पाँच बजे भी न थे कि बस में कोडम्बाकम चला आया। सीधे फरीदा के घर गया। मुझे उस युवती से मिलने का अच्छा मौका मिल गया था।

युवती अहाते में चमेली के फूल तोड़ रही थी। मुझे देखते ही उसने मुसकराते हुए नीचे मुँह कर लिया। शरमा गयी। उस उम्र की स्त्री के लिए शरमा जाना स्वाभाविक था।

मैंने मुसकराते हुए पूछा, "फरीदा घर में हैं कि नहीं ?"

वह युवती बिना कुछ कहे, कुछ मुसकराती, कुछ गुस्से में लजाती-लजाती अन्दर चली गयी। मेरे मन में गुदगुदी हुई।

थोड़ी देर में फरीदा बाहर आ गयी। ताज्जुब यह कि उसने मुझे बाहर बैठने के लिए कहा, मैं नहीं समझा क्यों। हो सकता है शायद वह न चाहती हो कि मेरी नजर उसकी बहन पर पड़े। मुझे बुरा ज़रूर लगा।

गली में ले गयी मुझे फरीदा। मैंने उसको बता दिया कि अमुक अंग्रेज़ी परिवार को आया की जरूरत है, और वह वहाँ जाकर अपना भाग्य आजमा ले। मैंने उसको यह भी साफ़-साफ़ कह दिया कि अगर वह कामदिलाऊ दफ़्तर के भरोसे बैठी रही तो उसको काम तुरन्त न मिलेगा। जब तक फार्म भर-भराकर तैयार होंगे तब तक वह नौकरी भर भी जाएगी।

फरीदा बड़ी खुश हुई। पर मैं अभी खुश न था। मुझे लग रहा था कि शराब का प्याला किसी ने ऐन होठों से खींच लिया हो। कुएँ तक आया भी और प्यास न बुझा सका।

रात-भर नींद न आयी। भगवान को मनाता रहा कि फरीदा को नौकरी मिल जाय। मैं कोई परोपकारी हूँ, ऐसी बात नहीं। आदमी का दिल भी क्या है। बुरी बला है। मैं सोच रहा था अगर फरीदा को नौकरी मिल गयी तो दिन-रात वह उस अंग्रेज़ के घर में ही पड़ी रहेगी। घर में वह युवती अकेली रहेगी। मुझे मिलने का मौक़ा मिलेगा।

फिर यकायक मुझे अपने पर ही घृणा होने लगी। मैं भला क्यों किसी की ग़रीबी का नाजायज़ फ़ायदा उठा रहा हूँ? अगर ग़रीब न होती तो मैं क्या उस पर आँख उठाने की हिम्मत करता? मैं भी तो एक ग़रीब हूँ। अगर वह दफ़्तर में मुझसे न मिलने आती तो बात यहाँ तक आती ही न। मैं क्यों अपनी नौकरी से फ़ायदा उठा रहा हूँ।

फिर एक और झोंका आया—मैंने कौन-सा सदाचारी बने रहने का ठेका ले रखा है? अकेला हूँ, भटकता हूँ—तो भला क्यों न भटकूँगा? अगर पत्नी को मालूम हो गया तब? वह मुझे कौन-सा दूध का धुला समझती है। पर मालूम होगा कैसे?

इसी उधेड़बुन में सवेरा हो गया। मैं गली में फिर किसी-न-किसी बहाने मटरगश्ती करने लगा। वह युवती पहले तो घर में थी, खिड़की में

से दीख पड़ती थी। पर जब गली का चक्कर लगाकर मैं वापस आया तो वह दरवाज़े की चौखट से लगी खड़ी हुई थी। चेहरे पर वही शराबी मुसकराहट थी। मुझे देखते ही आँखें नीचे कर लीं। पैर धीमे-धीमे हिलाने लगी। उस शर्म में जो नज़ाकत थी, मैंने पहले कभी न देखी थी। घर में कोई था भी नहीं। फिल्मों में काम करनेवालों का भला वक्त का क्या ठिकाना! फिर मैंने उस घर में किसी मर्द को देखा भी न था। पर अन्दर जाने की हिम्मत न होती थी। मन जाने को कहता पर कदम साथ न देते।

घूम-फिरकर दफ़्तर चला गया। फिर वही रोज़ जैसी हालत। पागलपन बढ़ता जाता था। शाम को घर गया। सीढ़ियों पर वही मुसकराता चेहरा। फिर वही मेरी कमज़ोरी। घर गया। कपड़े बदलकर बाहर आने को ही था कि फरीदा मुसकराती-मुसकराती नमस्ते करने लगी। उसके कहने की ज़रूरत नहीं थी कि उसको नौकरी मिल गयी थी।

"आपका बहुत-बहुत धन्यवाद—आप अगर मदद न देते तो······" फरीदा कह ही रही थी कि मुझमें शिष्टता कूक उठी—"मैंने भला क्या आपकी मदद की है, सब भगवान की दया है।"

"आपका प्रत्युपकार कैसे करूँ? आप तो अकेले नज़र आते हैं, कभी हमारे घर भी आ जाया कीजिये।" उसने मुसकराते-मुसकराते हुए कहा और चली गयी। फरीदा ने मुझे तभी तक ही आकर्षित किया जब तक मैंने उसकी बहन को न देखा था। फिर उसके भाव-ताव भी कुछ ऐसे थे जो संभ्रान्त महिलाओं को शोभा नहीं देते। वह कुछ चुलबुली-सी लगती थी, भटकी हुई-सी।

गली में घूम-फिरकर मैंने उसको फिर देखा। सवेरे भी मैंने उसको मफ़लर लिए हुए बरामदे में बैठे पाया। न जाने क्यों उसको देखकर मुझे तसल्ली होती थी। मन का तूफ़ान थम-सा जाता। पर अहाते में जाने की हिम्मत न होती।

दफ़्तर में तो आज डाँट भी मिली। ऑफिसर ने ऊपर के अधिकारियों से शिकायत करने की धमकी दी। अगर नौकरी खो बैठा तो···बस नदी में

ढूंढनेवालों को लाश भी न मिलेगी। ठान ली कुछ भी हो आज शाम को उस युवती से भेंट करेंगे।

बन-ठनकर, हाथ में मिठाइयों का पार्सल ले, शाम को पाँच बजे के करीब मैं फरीदा के घर गया। फरीदा अभी काम से वापस न आयी थी। उसकी बहन घर में बैठी हुई थी। मैंने जाकर दरवाजा खटखटाया। उसने मुसकराते हुए दरवाज़ा खोल दिया। मेरी हिम्मत बँधी। घर में कोई न था। मेरा दिल कूदने लगा। मैंने मीठे स्वर में पूछा, "फरीदा नहीं हैं क्या ?"

उस युवती ने गंभीरता से एक तरफ मुँह मोड़कर कहा, "नहीं है।"

"आप उनकी क्या होती हैं ?"

उसने कोई जवाब न दिया। मैंने उसके नजदीक आते हुए पूछा, "कब आयेंगी ?" फिर भी उसने कोई जवाब न दिया। मैं कुछ समझ न पाया। पर उसने अपना मुसकराता चेहरा मेरी तरफ किया। मैंने हाथ पकड़ते हुए कहा, "क्या आप अकेली रहती हैं ?" मेरा उसका हाथ पकड़ना था कि वह आग-बबूला हो गयी। मेरे हाथ को काटने लगी, चिल्लाने-चीखने लगी। मैं जान बचाकर बाहर निकला तो पड़ोसी सौ आँखों से मेरी तरफ देख रहे थे।

मेरा सिर चकरा रहा था। मुझे यह समझ में नहीं आ रहा था कि जो हमेशा मुसकराती-सी, बुलाती-सी लगती थी, क्यों एकदम इतनी चुड़ैल-सी हो गयी। मैं शर्म के मारे गड़ा जाता था। पहली बार ही भटका था। अच्छा सबक मिला।

रात-भर मुझे ऐसा लगा जैसे यकायक बुखार चढ़ रहा हो और उतर रहा हो। तड़के ही फरीदा मेरे घर चली आयी। मैं घबरा उठा। कहीं वह एक और झमेला न खड़ा कर दे। पर उसने आते ही बड़ी नम्रता से नमस्ते की। मैंने उसको घर के अन्दर बुलाया, ऐसा न हो वह झगड़ना शुरू कर दे और गली के लोग तमाशा देखने इकट्ठे हो जाएँ। वह अन्दर आ गयी।

"माफ कीजिए, मैं घर में न थी, नहीं तो आपका अपमान न होता।" फरीदा ने धीमे-धीमे कहा। मुझे खुशी हुई कि वह मेरा एहसान मान रही

थी, नहीं तो उसका थूकदान बन गया होता। साफ था, फरीदा को पड़ो-सियों से सब मालूम हो चुका था। फरीदा कह रही थी, "मैं आपको अपनी हालत बताऊँ तो आप शायद बुरा न मानेंगे।" मुझमें कँपकँपी-सी पैदा हो गयी थी। मैं सोच नहीं पा रहा था कि क्या करूँ। फरीदा कहती जाती थी—"जब जोन गुजर गये तो मैं मद्रास चली आयी···" जोन उसके पति का नाम था। "···जोन और अब्राहम में अच्छी दोस्ती थी। हमीदा की शादी के बाद तो अब्राहम हमारे साथ ही रहता। आपको मालूम ही है मेरी बहन का नाम हमीदा है। जोन नाटकों का ठेका लेता। अब्राहम को एक्टिंग का शौक था। वह उसके नाटकों में हिस्सा लेने लगा, पर हमीदा को यह गवारा न था कि अब्राहम नाटकों में खेले। वह चाहती थी कि वह किसी दफ्तर में नौकर हो जाय। हमीदा मुझे ही बुरा-भला कहती, जैसे मैंने अब्रा-हम को बहकाकर नाटकों में काम करने के लिए कहा हो, हमीदा को यह भी शक होने लगा कि अब्राहम क्यों मुझसे अच्छी तरह रहता है। दो-तीन साल बीत गये। अब्राहम मद्रास चला आया। जोन भी अचानक हार्ट फेल्यूर से गुजर गये। मुझे भी बदकिस्मती मद्रास खींच लाई।" यह कहती-कहती फरीदा हिचकियाँ भरने लगी।

"अब्राहम की हालत अच्छी न थी। कभी काम मिलता तो कभी न मिलता। कभी घर में खाना होता तो कभी न होता। फिर ऊपर से मैं आ पड़ी थी। मेरे बारे में पति-पत्नी खूब झगड़ते। मैं सोचती—कहीं चली जाऊँ, पर अब्राहम ने मुझे जाने न दिया। उसने कभी हमारे घर में सालों काटे थे। इसका भी हमीदा ने बुरा मतलब लिया। वह हम पर शक करने लगी। अब्राहम, सुनते हैं, आवारागर्द भी हो गया था। क्या सुनाऊँ आपको? सुनाते हुए भी मुझे शर्म आती है। छः महीने बीत गये, पर अब्राहम को काम न मिला। आजकल सिनेमा निकालनेवाले कम हैं, और उनमें काम करनेवाले अधिक हैं। वह शराबी भी हो गया। पति-पत्नी में रोज लड़ाई होती। दोनों एक-दूसरे से भिन्नाए हुए थे। एक दिन बिना कुछ कहे-सुने, वह चुपचाप अपना बोरिया-बिस्तर लेकर चला गया—एक मफलर छोड़ता

गया···" मेरे मुख से सहज आह निकल पड़ी।

"सवेरे जब हमीदा उठी तो अब्राहम वहाँ न था। उस पर बिजली गिर गई। वह चुपचाप पत्थर की तरह बैठ गयी। कई दिन वैसी ही बैठी रही। एक दिन मुझ पर खूब चीखी-चिल्लाई। मूसल लेकर मारा भी। वह पागल हो गई। वह मेरा नाम सुनते ही जल उठती है। अगर मैं अन्दर होती हूँ तो बाहर जा बैठती है···" मुझे झट अपनी गलती समझ में आ गई। मुझे हमीदा के सामने फरीदा का नाम नहीं लेना चाहिए था।

"कुछ दिनों तक चीखती-चिल्लाती रही। फिर न जाने क्या हुआ कि वह सज-धजकर, बाल सँवारकर बरामदे में मफलर लेकर, अब्राहम की इन्तजारी करने लगी। जब कभी किसी आदमी को देखती है वह मुसकरा उठती है, शरमा जाती है। वह पागल है। आप बुरा न मानिये।"

मैंने एक लम्बी साँस ली। भगवान को दुआ दी कि जान तो बची।

"मेरी ही गलती थी। आपकी अनुपस्थिति में मुझे वहाँ न जाना चाहिए था, खैर।"

वह कुछ देर बैठी रही, फिर चली गयी।

दफ्तर का समय हो रहा था। मैं कपड़े पहनकर निकला। इच्छा हुई कि किसी दूसरी गली से बस स्टैण्ड पहुँचूँ। पर इस गली के सिवाय और कोई गली न थी। बरबस जाना पड़ा।

बरामदे में मफलर लिए हुए हमीदा बैठी हुई मुसकरा रही थी। मैंने कनखियों से देख तो लिया, पर मुसकराया नहीं। उसकी ओर छाता मोड़कर सीधा चला गया।

१०

खुदा का कारिन्दा

कई बिना मेहनत के धनी हो जाते हैं। उनमें श्री भुजंगराव भी थे। वह किस्मत के लाड़ले कहे जा सकते हैं। सात-आठ लाख रुपये की जमींदारी थी। हरजाने के तौर पर ही सरकार लाखों रुपया दे रही है। कई कल-कारखानों में रुपया लगाया हुआ है। आजकल व्यापार में भी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी है। सूद पर कर्ज़ा देते हैं। लाखों रुपये बैंक में जमा हैं।

अगर उनकी किस्मत अच्छी न होती तो मुमकिन था कि वह किसी रईस के गरीब रिश्तेदार-भर ही रह जाते। इसके बारे में लोगों में एक बात प्रचलित है। बड़े-बूढ़ों का भी उस पर विश्वास है। खुद उनके ख़ानदान के लोग उनसे ऐसा बचते हैं जैसे उनके बीच पंखोंवाला कौआ आ पड़ा हो।

बात यों है। रायपुर के जमींदार साहब की कोई संतान न थी। उन्होंने तीन शादियाँ की थीं। कहनेवाले तो बहुत-कुछ कहते हैं, पर जमींदार साहब का कहना था कि उनको पुत्र भाग्य में ही न था। तीनों पत्नियाँ उनकी नज़र में बाँझ थीं। उनको भी, पिछले जमींदार साहब ने जो उनके ताऊ होते थे, गोद लिया था।

उनकी उम्र बड़ी होती जाती थी। जब पचास के करीब आ गये, तो उनको वारिस की फिक्र सताने लगी। इतनी बड़ी जमींदारी किसको छोड़-कर जायँ! उन्होंने विवश हो शायद फैसला कर लिया था कि अपनी दूसरी पत्नी के रिश्तेदारों को, जिनसे उनका शादी से पहले भी सम्बन्ध था, सब माल-मिल्कियत बाँट देंगे। इसकी गंध बड़ी पत्नी को भी मिली।

वह यकायक 'गर्भिणी' हो गई। राजा साहब फूले न समाये। नवें महीने

उनकी पत्नी ने पुत्र 'जन्म' भी दिया। उसका नाम भुजंगराव रखा गया।

जमींदार साहब शायद कुछ दिन और जीवित रहते अगर उनको यह न मालूम होता कि उनको धोखा दिया गया है। वह अन्त तक सन्देह ही करते रहे। बड़ी पत्नी के दबाव में वह सारी जमींदारी भुजंगराव के नाम लिखते गये। पत्नी की चाल चल गई।

कहा जाता है, भुजंगराव एक सुनार के लड़के थे। सुनार की पत्नी राजा साहब की पत्नी के पास नौकरानी थी। मौके पर नौकरानी से उसका लड़का ले लिया गया था। जब से इस दुनिया में भुजंगराव ने आँखें खोली हैं उनको किस्मत पुचकारती ही आ रही है।

होने को तो बहुत पैसा है, परन्तु भुजंगराव अव्वल दर्जे के कंजूस समझे जाते हैं। दया-दान वगैरह उनके गुण नहीं हैं। यह कहते अक्सर सुना जाता है, यदि वह जमींदार घराने के लड़के होते तो उतने सूम न होते। इसी को वे उनके सुनार की सन्तान होने का सबूत समझते थे।

भुजंगराव दान भले ही न दें पर अपने पर खर्चने में आगा-पीछा न देखते थे। शहर में एक आलीशान महल है। चार सौ-पाँच सौ एकड़ जमीन का चारों ओर आहाता है। दसियों कारें हैं, पचासों नौकर हैं। फाटक पर गोरखों का पहरा रहता है। हर गर्मियों में पहाड़ों पर जाते हैं। एक-दो बार शायद यूरोप भी हो आये हैं। रईसी का ऐसा कोई विनोद न था जिसे भुजंगराव पसन्द न करते हों।

भुजंगराव निस्सन्तान न थे। भगवान ने तीन लड़के और तीन लड़कियाँ दी थीं। लड़कियों की शादियाँ हो चुकी हैं। लड़कों को भी थोड़ी-बहुत जमीन बाँट दी है। उनका घरबार सब अलग है। पिता-पुत्रों में तीन-छः का रिश्ता है। जायदाद के बारे में अदालत में कई मुकद्दमें भी चल रहे हैं।

चार साल पहले ही भुजंगराव की साठवीं वर्षगाँठ बड़े जोर-शोर से मनाई गई थी। पहली पत्नी को गुजरे हुए दस साल के करीब हो गये हैं। उन्होंने तब ऐसी जिन्दगी बिताई कि जवान भी दाँतों तले उँगली रख

लेते थे। शहर की वेश्याओं में अक्सर इनके बारे में कानाफूसी होती।

अब दूसरी शादी कर ली है। पत्नी की उम्र मुश्किल से बीस-इक्कीस की होगी। शादी भी बड़ी विचित्र परिस्थितियों में हुई। किसी को न्योता तो अलग शादी की सूचना तक न दी गई। रातों-रात शादी हो गयी और दुल्हिन सवेरा होते-होते उनके घर भी आ गई। दूर की कोई गरीब सम्बन्धी थी। दुल्हिन के माँ-बाप को काफी पैसा दिया गया था।

भुजंगराव अपने जीवन में उतना किसी चीज से भी न डरते थे जितना कि मौत से। उनको किसी बात का रंज भी न था—सिवाय अपने ही बच्चों की दुश्मनी के। जिन्दगी में उन्हें हर चीज मिली थी—रुपया, हैसियत, ऐश, शोहरत, धन-सम्पत्ति, सभी कुछ। अगर मौत को उनके फाटक से गुजरकर आना होता तो शायद वह अपने हथियारबन्द गोरखों को ताकीद कर देते कि उसे न घुसने दें।

भुजंगराव को किस्मत ने बिना माँगे ही बहुत-कुछ दिया है। उनका किस्मत पर बहुत भरोसा है। अपने मकान में ही, अच्छा वेतन देकर एक अनुभवी ज्योतिषी को रखते हैं। बिना ज्योतिषी की सलाह के वह कुछ भी नहीं करते हैं; और ताज्जुब यह कि ज्योतिषी जो कुछ कहता आया है वह अक्सर गुजरता भी आया है।

ज्योतिषी ने, नौकरों के मुँह सुना जाता है, सलाह दी कि अगर वह दूसरी शादी न करेंगे तो एक दुर्घटना में उनकी मौत हो जायेगी। शादी कर लेने से, दुर्घटना तो होगी पर मौत पत्नी की होगी।

फिर क्या था, देखते-देखते भुजंगराव ने शादी कर ली। शादी किये हुए दो साल हो गये हैं। बूढ़े भुजंगराव में जवानी की चुस्ती-सी आ गई है। वह अपनी पत्नी के साथ, खुली कार में अक्सर घूमने निकलते। अपने लड़कों के बंगलों के सामने जाते वक्त, ड्राइवर को हुक्म दिया हुआ है कि हॉर्न बजाया करे, ताकि वे उनको सपत्नी घूमता जाता देखें। ऐसा लगता था मानो अपने लड़कों को चिढ़ाने के लिए ही उन्होंने दूसरी शादी की हो। यों तो उनकी पोती ही उनकी पत्नी से उम्र में बड़ी हो गयी थी।

भुजंगराव के घर में उनकी पत्नी ही मालकिन बन गई। उनको सारे घरबार की चाबियाँ दे दी गई। सारे रुपए-पैसे का हिसाब भी वह ही रखने लगी। भुजंगराव भी पत्नी से दब-दबकर रहने लगे। उनका शायद ख़्याल था कि रुपये-पैसे, पत्नी को सौंप देने से, उनके लड़के जमीन-जायदाद की फ़िक्र में फिर उनके पास आ जायेंगे, पर वे आये नहीं।

इस बीच, सरकार ने भी जमींदारी रद्द कर दी। भुजंगराव का खून का दबाव बढ़ने लगा। वह ऐसे ढीले-ढाले पड़ गये जैसे कोई नशा उतर गया हो, और उन्हें कुछ सूझ न रहा हो। हमेशा चिढ़े-से रहते।

ज्योतिषी का बताया हुआ संकट-समय भी बीत गया। दुर्घटना की शंका बनी रही पर दुर्घटना न घटी। भुजंगराव अक्सर अकेले बैठे-बैठे बड़बड़ाते। उनको पागलपन-सा हो गया था; पर जिन्दगी से तब भी ऐसे चिपटे हुए थे जैसे बुढ़ापे में भी राम-नाम लेना पाप हो।

* * *

भुजंगराव का महल, जहाँ आने-जाने की पहले भी पाबन्दी थी, अब क़िला-सा हो गया था। किसी को भी अन्दर जाने की इजाजत न थी। यहाँ तक कि डाकिया भी, फाटक के पास गुरखे को डाक सौंपकर चला जाता था। नौकरों द्वारा लोगों में यह अफवाह फैलाई गई थी कि भुजंगराव को चेचक हो गई है।

उनकी बड़ी लड़की विधवा होकर उन्हीं के घर वापस आ गई थी। बड़े लड़के ने भी पिता से पट-पटा लिया था। सब मिल-जुलकर उसी महल में रह रहे थे। जमींदारी छीन लेने के कारण अगर भुजंगराव की आँखें बन्द हो गई थीं तो उनके बड़े लड़के की आँखें खुल भी गई थीं। उनकी जमीन-जायदाद रोजमर्रा के खर्च के लिये कभी की बिक चुकी थी। पिता के सिवाय उनका और कोई सहारा न था।

अभी बड़े लड़के के घर में आये हुए दो महीने भी न हुए थे कि उनकी नवयुवती पत्नी ने पुत्र जन्म दिया। पुत्र-जन्म पर ऐसा लग रहा था जैसे मातम मनाया जा रहा हो। उत्सव, तोहफे तो अलग, किसी को सूचना तक

न दी गयी थी। हर कोशिश की जा रही थी कि यह बात किसी को पता न लगे। चेचक का बहाना था। सच बात यह थी।

भुजंगराव शोला हो रहे थे। ज्योतिषी बर्खास्त कर दिया गया था। उन्होंने घर से बाहर आना-जाना बन्द कर दिया। नौकरों का कहना है कि पत्नी को भी एक कमरे में बन्द कर दिया गया था। यह भी सुनते हैं कि पत्नी के ड्राइवर को मार-पीटकर भगा दिया गया था। किस्मत उसका साथ न देती तो शायद वह कत्ल भी कर दिया जाता।

भुजंगराव को अपने भूत के बारे में मालूम था। जमींदारी जब उनके हाथ आयी तो अदालत में उनके जन्म के बारे में कई मुकदमे भी थे। फिर जब उन्होंने शादी करनी चाही थी तो उनकी बिरादरी या वर्ग का कोई लड़की देने को तैयार न था। पैसे के बल अपनी जाति के किसी गरीब के घर में शादी कर ली थी। उनकी लड़कियों की शादियाँ भी बिरादरी से बाहर हुई थीं। अब भी अपनी जाति में बहिष्कृत-से हैं वह, इसलिए स्वभाव से शक्की हो गये थे।

उनको सन्देह था कि उनकी पत्नी ने उनके साथ बेवफाई की है। उनको पत्नी के ड्राइवर पर शक था। दूसरा सन्देह यह भी था कि सम्पत्ति को हड़पने के लिए सन्तान की यह चाल चली गई हो। उनकी लड़की भी उनके कान भर रही थी। वह गोरखधंधे में फँसे हुए थे। उनको सन्देह था कि अड़सठ वर्ष की उम्र में भी क्या एक व्यक्ति पिता बन सकता है!

गर्मी के दिन थे। चाँदनी खिली हुई थी। भुजंगराव अपनी पत्नी के साथ छत पर बैठे हुए थे। आस-पास कोई न था। घर में भी लड़के का परिवार और लड़की सिनेमा देखने गये हुए थे। उनकी पत्नी को बहुत दिनों में कमरे से निकलने की इजाजत मिली थी।

पत्नी को ऐसा लगा जैसे फूटे भाग्य फिर जग रहे हों। वह उदास चेहरे पर मुसकराहट लाने की कोशिश कर रही थी।

"तुम्हारा क्या इरादा है?" भुजंगराव ने बड़ी गम्भीरता से गुर्राती हुई आवाज़ में पूछा।

"मुझे समझ में नहीं आ रहा है आजकल मुझसे आप इतना नाखुश क्यों रहते हैं ? आखिर मेरा कसूर क्या है ?"

"क्या तुम इतनी मूर्ख हो, कि तुम्हें इतना भी नहीं मालूम। मैं तुम्हारी सब चाल समझता हूँ। ये बाल धूप में नहीं पके हैं, किसी और को धोखा देना।"

"आप क्यों ऊट-पटाँग शक कर रहे हैं ? यह सब इसीलिए न कि मैं गरीब की लड़की हूँ ! हिन्दू स्त्री हूँ... और जवानी..."

"और क्यों नहीं कहतीं कि बूढ़े की दूसरी स्त्री हूँ।"

"मुझे तो आपसे इस बारे में कोई शिकायत नहीं है।"

"हो भी कैसे ? रानी की तरह यहाँ रखा जो है। तुम्हें अपनी करनी का फल मिलेगा।"

"मैंने किया क्या है ? आपके लड़के की कसम मैं बेकसूर हूँ।"

"लड़के की कसम ? किसका लड़का है ? हमें तुम्हारे ड्राइवर से सब कुछ मालूम हो गया है !"

"आह... आपने क्या मुझे इतना नीच समझ रखा है ? मैं सच कहती हूँ कि मैंने कुछ नहीं किया है...यदि आपको इतना सन्देह है तो मेरा आपके साथ रहने से क्या फायदा—आपको खुद मालूम हो जायेगा कि आपका शक कहाँ तक सच है—जाने दीजिये, मैं यहाँ एक क्षण नहीं रहना चाहती। मुझे जाने दीजिये।"

"तुम-जैसी स्त्रियाँ ड्राइवर के पास नहीं तो और किसके पास जायेंगी ? माँ-बाप को खाने-पीने का ठिकाना नहीं और बातें..."

"मुझे जाने दीजिये... भगवान जानते हैं कि मैं कसूरवार हूँ या बेकसूर। मैं अब यहाँ नहीं रह सकती, जाने दीजिये। मुझे उसी दुनिया में जाने दीजिये जहाँ से आप उठा ले आये थे। कभी-न-कभी तो..."

"वैधव्य लिखा ही है। बूढ़ा जो हूँ। करो जबान बन्द। बकवास मत करो।"

दुःख के तूफान को रोकते हुए भुजंगराव की पत्नी अपने कमरे में चली

गयीं। दरवाजा अंदर से बन्द कर लिया। वह हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगीं। कभी इधर जातीं, कभी गहने इधर-उधर फेंकती। फिर लड़के के पालने के पास बैठ जातीं। वह वहाँ रह भी न पाती थीं और जा भी न पाती थीं। वह यह न चाहतीं थी कि उनके पति की बदनामी हो। वह अन्दर-ही-अंदर घुटी जाती थीं। आधी रात होते-होते उनके कमरे के बाहर भी ताला लगा दिया गया।

सुनते हैं वह दो-तीन दिन उसी कमरे में पड़ी रहीं। उन्होंने कई बार आत्महत्या करने की कोशिश की, पर लड़के को देखकर रुक गई। इधर जिन्दगी के द्वार बन्द थे और उधर मौत के भी दरवाजे न खुले थे। वह पागल-सी हो गई। चिल्लाने-चीखने लगीं। वह पाँच-दस दिन बाद डाक्टरों द्वारा पागल करार दी गई। डाक्टरों को भुजंगराव के यहाँ से सालाना अच्छा-खासा वेतन मिलता था।

हर साल परिवार-सहित भुजंगराव गर्मियों में पहाड़ों पर जाया करते थे। इस साल उनकी पत्नी ही 'इलाज' के लिये नीलगिरि भेजी गई। उनके साथ दो-चार नौकरानियाँ भेज दी गई। भुजंगराव ने अपना एक विश्वस्त ड्राइवर भी भेजा।

भुजंगराव का दिल कुछ हल्का हुआ। वह अपने पोते-पोतियों के साथ अक्सर घूमने जाया करते। ड्राइवर को सख्त हिदायत कर दी गई थी कि वह कार कभी तेजी से न चलाये और भीड़-भड़ाके में से न ले जाये। पत्नी के पास न होने पर उनमें दुर्घटना का भय बढ़ता जाता था।

जान-पहचानवाले कभी मिलते तो इससे पहले कि वे कुछ पूछते, भुजंगराव खुद ही कहना शुरू कर देते कि उनकी पत्नी की तबीयत अच्छी नहीं है और उन्हें ठण्डी हवा के लिये नीलगिरि भेज दिया गया है।

जमीन-जायदाद हासिल करने के लिये, और इसलिए कि कोई दूसरा उसे हड़प न ले, भुजंगराव ने अपनी जिन्दगी में काफी पैंतरे खेले थे और कितनों का ही पैसा मारा था, जालसाजी भी की थी। उनमें नैतिकता का माप-दण्ड भी दूसरा था। जिन्दगी और रईसी को बनाये रखने के लिये वह किसी

चीज को बुरा न समझते थे। उनकी नजर में सब-कुछ भला था अगर रईसी बनी रहे। फिर से ऐसे रहने लगे जैसे कुछ गुजरा ही न हो।

पत्नी को गये हुए दो महीने हो गये थे। नहीं मालूम कि उनके गुजारे के लिये रुपये भेजे गये थे कि नहीं, पर यह सुना गया है कि ड्राइवर को उसके अपने अलग पते पर महीने में चार-चार हजार रुपये भेजे गये थे।

कुछ दिनों बाद भुजंगराव को तार मिला कि उनकी पत्नी और उनका लड़का एक दुर्घटना में सख्त घायल हो गये थे और बाद में अस्पताल में वे मर गये थे। दुर्घटना तब हुई जब वे सवेरे के कोहरे में ऊटी से कोनूर जा रहे थे। ड्राइवर भी अस्पताल में नाजुक हालत में पड़ा था।

भुजंगराव नौकर-चाकर के साथ तुरन्त ऐसे रवाना हुए जैसे उनकी गर्मियाँ तभी शुरू हुई हों। नीलगिरि जाकर पत्नी और लड़के का अन्त्येष्टि संस्कार कराया। दो-तीन महीने वहाँ रहे। किसी से मिले-जुले नहीं। चारों ओर ऐसा वातावरण बनाये रखा मानो उन्हें गहरा सदमा पहुँचा हो।

ड्राइवर की हालत सुधर गई थी। कहनेवाले कहते हैं कि भुजंगराव ने फिर उसे कई हजार रुपये का इनाम दिया। पर जब वह वापस मद्रास आये तो उनके साथ उनका ड्राइवर न था। उसका भी काम तमाम कर दिया गया था। मद्रास के आलीशान महल में फिर चहल-पहल शुरू हो गई थी। लोग आने-जाने लगे थे। न जाने क्यों भुजंगराव ने एकाएक दान-धर्म शुरू कर दिया था। हजारों रुपया दान दिया। स्त्रियों के लिए एक विद्यालय भी खुलवाया। समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। हर कोई उनकी प्रशंसा करता। ऐसी बात नहीं कि उनमें किसी प्रकार की पश्चाताप की भावना आ गई हो। यह भी एक पैंतरा था। भुजंगराव-जैसे व्यक्ति चिता की आँच में भी अपना रूप नहीं बदलते हैं।

वह अपने महल के बरामदे में बेंत की कुर्सी पर बैठे हुए थे। कुछ पढ़ रहे थे। ज्योतिषी उनसे मिलने आये। वह गिड़गिड़ा रहे थे, "जब से आपकी हमारे ऊपर से कृपादृष्टि हटी है, मुसीबत में हूँ। मेहरबानी कीजिये। देखिये, मेरा कहना ठीक निकला। अगर आप भी हर साल की तरह नीलगिरि जाते

तो जरूर इस दुर्घटना में, भगवान् न करें, आप भी होते। आपका न जाना ही अच्छा रहा।"

"शायद···शायद··अच्छा, अच्छा, फिर कभी···अभी मुझे पढ़ने दो।" भुजंगराव ऐनक में से आँखें फाड़-फाड़ पढ़ने की कोशिश करने लगे। ज्योतिषी के जाते ही किताब रख दी और छड़ी के सहारे बरामदे में मुँह नीचा किये इधर-उधर भयभीत-से घूमने लगे।

११

संदेह

आज मैंने उन्हें देख ही लिया। बहुत दिनों से उनके बारे में सुनता आ रहा हूँ। देखने को उत्सुक था, पर उन्हें मिल नहीं पाता था। एक तो फुर्सत नहीं, दूसरे उनका पता नहीं मालूम था। अचानक ही मिल गया। कुछ अचरज हुआ और कुछ अफसोस।

वह कोट-पैंट पहने हुए थे—कीमती, शानदार कपड़े। सिनेमा हाल के लोंज़ में टंगी तस्वीरें देख रहे थे। न बौने, न कद्दावर—पाँच फुट छः इंच के करीब, मुटियाता शरीर, बाल भी खिचड़ी, उम्र कोई चालीस-पैंतालीस की होगी। डरावनी, छोटी-छोटी लाल आँखें—शराबी की-सी।

उनके बगल में एक युवती थी—कद में उनसे बड़ी, एकहरा बदन, गोरी, सजी-धजी, उम्र कोई पच्चीस-छब्बीस की होगी—शायद उनकी पत्नी थी। उनके चेहरे पर कुछ गम्भीरता थी—बेचारापन जो कि स्त्री के सौन्दर्य में आकर्षण ढोलता है। बड़ी-बड़ी, झुकी-झुकी आँखें, जवानी से लदी हुई। ऐसा लगता था पेड़ के ठूंट के पास फूलों की बेल खड़ी कर दी गयी हो। यौवन और सौन्दर्य उभरे आते थे।

वह तस्वीरें देख रहे थे और मैं उन्हें। देखना शायद असभ्यता थी। पर मेरी उत्सुकता इतनी अधिक थी कि सभ्यता की फिक्र न थी। उनसे बात-चीत भी करना चाहता था, हिम्मत न होती थी। देखता ही रह गया।

वह सिगरेट पी रहे थे ठीक वैसे ही जैसे कि और पीते हैं। फर्क इतना कि उनके हाथ न थे—उँगलियाँ और हथेलियाँ काट दी गयी थीं। टुंडे थे, दोनों हाथों के बीच सिगरेट दबोचकर दम लगा रहे थे—कटे हाथों से ही

उँगलियों का काम भी कर लेते थे।

सुनते हैं कोई ऐसा काम न था जो वह न कर पाते थे—लिखते थे, पानी खींचते थे, ताश खेलते थे। उन्हें देखकर ताज्जुब होता था। जब कभी वह घर से बाहर निकलते तो लोग उन्हें अचम्भे से घूरा करते।

मेरा उनसे परिचय नहीं था––वह शायद मुझे पहचानते भी न थे। पर मैं उनके बारे में बहुत-कुछ जानता हूँ। उनका गाँव हमारे गाँव के नजदीक है। हमारी जमीन और उनकी जमीन में सिर्फ मेढ़ का ही फासला है। वह अच्छे रईस थे, पचास-साठ एकड़ की खेती होती थी। इकलौते लड़के, सबके लाड़ले।

आजकल शहर में वकील हैं। वकीलों की तो इतनी भरमार है कि कहा नहीं जा सकता कि इनकी प्रेक्टिस थी कि नहीं। कोर्ट में मुश्किल से पाये जाते थे। क्लब वगैरह में भी नहीं दीखते थे।

वह वहाँ लगी सब तस्वीरें देख गये, एक सिरे से दूसरे सिरे तक। अभी सिनेमा का वक्त नहीं हुआ था, बेचैन-से लगते थे। लगातार सिगरेट पीते जाते थे।

उनकी हरकत से ऐसा मालूम होता था मानो भीड़-भड़ाके से उन्हें सख्त नफरत हो। खीझे हुए-से थे। आँखें नीची करके देखते थे, जैसे सबकी आँखें उन्हीं पर गड़ी हुई हों और उन्हें वह देखना न चाहते हों। इधर-उधर थोड़ा घूमे, फिर पासवाले कॉफी होटल में चले गये।

मैं भी सिनेमा देखने आया था। मुश्किल में था, समय कैसे काटा जाय–– अभी पूरे बीस मिनट बाकी थे। मैं भी होटल चला गया। उनको देखते-देखते मुझे बरसों की बातें याद आ रही थीं। एक-एक कर न जाने कितनी ही घटनाएँ याद आ गयीं—एकदम साफ, जैसे कल ही गुजरी हों।

तब मैं बहुत छोटा था, घर के आँगन में बैठा हुआ था और मेरी बगल में पिताजी थे। गाँव के दो-चार आदमी कुछ दूर बैठे थे। शाम का वक्त, गप्पें लग रही थीं।

सुब्बय्या सड़क पर चुस्ती से लट्टू लिये आ रहा था। उसके मस्तीले बैल

घंटी बजाते-बजाते आगे-आगे घर की ओर भाग रहे थे। हमारे घर के सामने आते ही उसने बैलों को कुछ इशारा किया और आँगन में चला आया।

"क्यों, क्या बात है? बिगड़े हुए लगते हो।" पिताजी ने सुब्बय्या से पूछा। सुब्बय्या का चेहरा पसीने से तर, तना हुआ, तमतमा रहा था।

"हूँ, बात तो क्या······किसी दिन हड्डी-पसली सब तोड़ दी जायेगी। समझता होगा अपने को धनी का लौंडा! है किसकी धौंस पर?"

"आखिर बात क्या है? बताओ तो सही, क्यों इतना खौल रहे हो?"

"वह जो लक्ष्मय्या है न···" इन्हीं का नाम है—हम दोनों की आँखें एक बार मिलीं, फिर सिर झुके, अपरिचितों की तरह हम कॉफी पीने लगे—"···दशरथ रामय्या का लौंडा। कभी उसकी अच्छी गत बनेगी। बेहया हो गया है। बिगड़ा हुआ है, चाचा।"

"वही न जो शहर में पढ़ता है? बड़ा हो गया है······" गाँववाले ने पूछा।

"हाँ, हाँ, शहर की हवा लग गयी है, उतारनी पड़ेगी। लातों के भूत बातों से नहीं मानते। समझता होगा, गाँववाले हैं, सीधे-सादे हैं, दाल गल जायेगी।"

"आखिर बात भी कुछ है?" पिताजी ने फिर पूछा।

"हम लोग पिसाई के लिए धान इकट्ठा कर रहे थे। मेरे साथ हमारे गाँव की तुलसी भी थी, नरसिंहय्या की बेटी। वह धान बटोरती-बटोरती इनकी जमीन तक पहुँच गयी, यह जनाब मेंढ़ पर बैठे हुए थे, ताड़ की आड़ में। छेड़छाड़ कर दी। वह लड़की मेरे पास चिल्लाती-चिल्लाती आयी······"

"अरे, उसकी इतनी हिम्मत!" गाँववाले ने कहा।

"मैं जो लट्ठ लेकर लपका, वह भी लट्ठ ले तैनात खड़ा हो गया। गरमा-गरम बातें हुईं, लट्ठ भी चलते, खोपड़े टूटते, उसका बाप बीच में आ गया, नहीं तो······"

"जो हो गया सो हो गया। ऐसी बातें किसी से नहीं कहा करते। बेचारी लड़की की जिन्दगी खामखा तबाह हो जायेगी।" पिताजी ने समझाया।

"उस बदमाश ने नजर लगा रखी है। अव्वल दर्जे का लुच्चा लगता है। इन पढ़े-लिखों को······पढ़े-लिखे हैं तो क्या? आदतें कहाँ जायेंगी? खून तो वही है––भिखमंगे मजदूरों का! बाप ने मजदूरी करके ही तो जमीन कमायी है। कमीना है।" सुब्बय्या कहता जा रहा था।

"अब तो मामला खतम हो गया है, हटाओ।" पिताजी ने कहा।

"नहीं, चाचा, अभी तो शुरू हुआ है। किसी दिन उसके हाथ-पैर तोड़-कर रहूँगा––मजाल है कि वह किसी गाँव की लड़की से छेड़छाड़ करे।" वह चेतावनी-सा देता हुआ, लट्ठ उठा अपने बैलों के पीछे भागा।

मैं आश्चर्य से उसकी तरफ देख रहा था। गठा हुआ काला शरीर, चौड़ी छाती, कसरती बदन। सुब्बय्या गाँव का दिलेर नौजवान था। मशहूर लठैत, गाँव पर मर-मिटने के लिए तैयार। जेल भी हो आया था। माँ-बाप ने दस एकड़ जमीन दी थी––सात एकड़ वकीलों ने फीस के मद्दे हड़प ली। तीन एकड़ बची है। अब भी मस्त, बेफिक्र, अड़ियल।

"चढ़ती जवानी है, होता ही है······" पिताजी कह रहे थे।

"इसका मतलब यह तो नहीं कि शहर का लौंडा गाँव में खुले साँड की तरह फिरता रहे!" एक वृद्ध सज्जन ने कहा।

मेरी नजर लक्ष्मय्या पर पड़ी। कॉफी पीकर वह बाहर जा रहे थे। सिनेमा का वक्त हो गया था। मैं भी उठकर चल दिया।

* * *

दो-तीन पंक्तियों के आगे वह बैठे थे। परदे पर विज्ञापन दिखाये जा रहे थे। निस्तब्धता थी। विज्ञापन देखने की कभी मेरी मर्जी नहीं होती। लक्ष्मय्या के बारे में एक और बात याद आ गयी। स्मृतियों का तांता-सा बँधा हुआ था।

हमारे घर के पिछवाड़े में एक नींबू का पेड़ है। उसके आस-पास दो-

चार और पेड़ हैं। दिवाली के दिन थे। हम घास पर बैठे पटाके तैयार कर रहे थे। पिताजी भी साथ थे।

यकायक वेंकड धोबी भागता हुआ आया। हाँफ-हाँफकर कहने लगा—"लक्ष्मय्या के हाथ उड़ गये हैं—दशरथरामय्या के लड़के लक्ष्मय्या के।"

"कैसे ?" पिताजी ने हड़बड़ाते हुए पूछा।

"पटाकों के लिए बारूद ला रहे थे। बारूद फट पड़ा। हाथ जल गये, गनीमत है जान नहीं गयी, बेहोश हो गये थे।"

"अब कहाँ है ?"

"अस्पताल में भर्ती कर दिये गये हैं।"

पिताजी ने झट हमारे हाथ से बारूद लिया और दूर खेत में फेंक दिया। वह घबराये हुए थे। थोड़ी देर भौंचक्के-से बैठे रहे—चिंतित-से। उन्होंने बहन रमा की ओर घूरकर देखा, और बिना कुछ बोले उठकर चल दिये। हमें समझ में नहीं आ रहा था आखिर माजरा क्या है।

शाम को दोस्तों के बीच भी खिन्न-से रहे। अच्छे-अच्छे कपड़े पहन गाँव के लोग गप्पें मार रहे थे, पर पिताजी चुप बैठे रहे ऐसे जैसे लक्ष्मय्या के हाथ तो क्या जले उनका दिल ही जल गया हो।

एक बूढ़े ने मजाक में कहा, "सुब्बय्या को हड्डी-पसली तोड़ने की जरूरत ही नहीं हुई। भगवान ने किये का फल दे दिया। किसी लड़की पर हाथ उठाना अच्छा नहीं।"

"जाने भी दो।" पिताजी को देखकर मुसकराते हुए एक सज्जन ने कहा, "कितने ही लड़कियों को ताकते हैं और बुरी तरह ताकते हैं पर उनके हाथ नहीं कटते, इत्तफाक की बात है।"

पिताजी को खुश करने की कोशिश की जा रही थी। वह थोड़ी देर तक निश्चल हो बैठ रहे, फिर गम्भीरता से पूछा, "कैसी है उसकी हालत ?"

"बुरी हालत है, कभी होश में आता है तो कभी बेहोश हो जाता है। हाथ काट दिये गये हैं। जवानी है, घाव जल्दी ही भर जायेगा। ज़िन्दा है, यही

काफ़ी है, बेचारा दशरथरामय्या तो सिर पीट-पीटकर रो रहा होगा। जो खुद न पा सका लड़के के लिए खून पसीना करके जुटाया—जमीन, मकान, पढ़ाई-लिखाई, सब-कुछ।" बूढ़े ने बताया।

"सुना है वकालत पढ़ रहा था।"

"वकालत की परीक्षा में तो बैठ चुका है, पास भी हो जायेगा। लड़का तेज़ है पर यह बदकिस्मती देखो। भगवान के ढंग निराले हैं।"

"शादी वग़ैरह के बारे में भी बातचीत हो रही थी···" सब पिताजी की तरफ़ देखने लगे मानो उनसे किसी उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हों। पिताजी चुप रहे।

"क्यों चौधरी साहब···क्या···" इससे पहले कि सुब्बाराव पिताजी से कुछ पूछ बैठता मल्लिखार्जुनराव बोल उठे, "दिवाली है, क्यों मुँह सुजाये बैठे हो ? जो हो गया सो हो गया, जाने दो, अच्छा हुआ··" मल्लिखार्जुन-राव ने कुछ सोच-विचारकर अपना वाक्य पूरा नहीं किया। उनकी नज़र पिताजी पर थी।

पिताजी को उस मूड में पा, सब धीमे-धीमे खिसक गये। अंधेरा भी हो चला था। सिर्फ मल्लिखार्जुनराव रह गये। वह पिताजी के समवयस्क थे, बचपन के दोस्त। कभी एक ही थाली में खाना खाते थे। हम उन्हें चाचा कहते थे।

पिताजी ने मुझे जाने का इशारा किया। गप्पों का मुझे बुरा चस्का है, फिर चाचा की बातें तो ऐसी चटपटी होती थीं कि घंटों सुना करता था। उनकी ज़िन्दगी भी दिलचस्प थी, बेफिक्र, फक्कड़, फिर सुनाने का मज़ेदार तरीका, जब बीड़ी सुलगाकर बैठते तब तो बातों की झड़ी-सी लग जाती। उन्होंने बीड़ी सुलगा रखी थी।

मुझे पिताजी का इशारा अच्छा नहीं लगा। आखिर ऐसी कौन-सी बात थी जो मुझसे छुपाना चाहते थे। मेरी उत्सुकता और बढ़ी। मैं पिछ-वाड़े में गया, फिर धीमे-धीमे आ दरवाज़े के पीछे खड़ा हो उनकी बातें सुनने लगा।

पिताजी कह रहे थे, "अब क्या किया जाय ? बिजली-सी गिर गयी है। क्या इन सब लोगों को मालूम है कि हमारी दशरथरामय्या से बातचीत हो रही थी ?"

"मालूम ही होगा, क्या हर्ज है ? शादी और मौत की बातें कब तक छुपी रह सकती हैं ? जो हुआ अच्छा ही हुआ। मैं तो तुमसे पहले ही कहता था कि वह लड़का अपनी रमा के लायक नहीं है। पैसा है तो क्या ? पढ़ा-लिखा है तो भी क्या ? चाल-चलन अच्छा नहीं, आवारागर्दी के लिए भी बदनाम। है तो आखिर दशरथरामय्या का बेटा ! कभी उसने अपने यहाँ नौकरी की थी।"

"खैर, वह तो दूसरी बात है। इकलौता है। अच्छा खाता-पीता घर है। लड़की सुख से रहेगी, यही मेरा ख्याल है। जवानी है, आदमी गल्तियाँ करता ही है।"

"पर ऐसे भी तो भले लोग हैं जो जवान हैं और गल्तियाँ नहीं करते··· पढ़े-लिखे भी हैं। मुझे समझ में नहीं आता तुम उसी को ही क्यों रमा को देना चाहते हो···?"

"बातचीत भी पक्की हो गयी थी। कई और भी आये—मगर दशरथ-रामय्या ने माना ही नहीं।"

"भला क्यों मानता ? क्या तय हुआ था ?"

"दस हज़ार नकद और पन्द्रह एकड़ ज़मीन।"

"देखा इसका लालच ! जैसे-तैसे पचास एकड़ बनाये, अब भी सन्तोष नहीं। उसकी ज़मीन और तुम्हारी ज़मीन लगती है—पैंसठ एकड़ का एक ही खेत हो जायेगा। खुशी से फूला न समाता होगा।"

"ज़मीन की बात जाने भी दो। लड़का तो अच्छा पढ़ा-लिखा है, वकालत की प्रेक्टिस चल गयी तो···"

"अब क्या चलेगी ?"

"हम भी तो लाचार हैं। मैंने तो मंजूर कर लिया था। अब उससे क्या कहूँ ?"

"यह बात भाभी से भी कही थी कि नहीं ? मंजूर तो कर आये, तीन लड़कियाँ हैं, कहाँ से दोगे, पन्द्रह एकड़ एक-एक को और फिर लड़के ? कुल मिलाकर यहाँ पचपन एकड़ ज़मीन ही तो है। शादी की बदौलत क्यों बर-बादी मोल लेते हो ?"

"उसे क्या बताना ? मारे फिक्र के पलंग का सहारा लेगी। शादियाँ तो करनी ही हैं। बिना दहेज के कोई अच्छा वर मिलता नहीं, चाहे लड़की कितनी पढ़ी-लिखी और खूबसूरत हो।"

"इतने दहेज पर यह टटपूँजिया लक्ष्मय्या तो क्या कितने ही बढ़िया वर मिल जायेंगे। अपनी रमा कौन-सी बुरी है ? अभी जल्दी ही क्या है ? सोलह वर्ष की ही तो है।"

"पर अब क्या किया जाय ? मैं तो दशरथरामय्या को वचन दे चुका, बना-बनाया काम बिगड़ गया।"

"अच्छा हुआ, जो होना था, सो अभी हो गया। शादी के बाद ऐसी घटना होती तो रमा जिन्दगी-भर अपने भाग को रोती।"

"पर अब मैं क्या करूँ ? शादी मंजूर कर चुका हूँ।"

"तुम वचन-वचन कर रहे हो, और यह लड़की की जिन्दगी का सवाल है। हाथ कट गये हैं, बेकार है। खेती-बाड़ी भी नहीं कर सकता, और वकालत भी नहीं चला सकता। ऐसे टूँडे से शादी करने से क्या फायदा ? जान-बूझकर लड़की को क्यों दोजख में डालते हो ?"

"पर अब तो मैं कह चुका हूँ।"

"फिर वही, तुम भी अच्छे जिद्दी हो ! यह तो सोचो, खुदा न करे कि ऐसी गुजरे, मानो अपनी रमा के हाथ उड़ जाते तो क्या वह भलामानस उससे शादी करता ? कभी नहीं, बिल्कुल नहीं। क्या मुफ्त शादी कर रहे हो ? तोल-पीटकर भाव-ताव हुआ है। और तुम वचन को लिये बैठे हो !"

पिताजी थोड़ी देर चुप रहे। उनके पास कोई जवाब न था। उनके चेहरे पर हल्की-सी मुसकराहट भी थी। वह कह रहे थे, "पर भाई बदनामी होगी।"

"मारो गोली बदनामी को ! लड़की की जिन्दगी तो बची।"

लक्ष्मय्या और उनकी पत्नी मेरे सामने बैठे थे। अगर किस्मत का दखल न होता तो वह हमारे जीजा होते और उनके बगल में हमारी बहन बैठी होती। आज मैं उन्हें जानता भी नहीं हूँ, वह भी मुझे नहीं पहचानते। तब से दोनों परिवारों में तनाव-सा रहता आया है।

इश्तहार खतम हुए। फिल्म शुरू हुई। हाल में अँधेरा था। लक्ष्मय्या न दीखते थे, मेरी स्मृतियों की गति भी थमी।

* * *

ट्राम खटखटाती चलती जाती थी—खाली ट्राम, साढ़े नौ बजे के करीब। मैं कोने में बैठा लक्ष्मय्या के बारे में सोच रहा था। मुझमें उन्होंने एक ऐसी याद जगा दी थी जो रोके न रुकती थी। दुःख और याद का प्रवाह बरसाती नाले का-सा नहीं है, नदी का-सा है। थमता नहीं। बहता जाता है।

मेरी आँखों के सामने एक दृश्य था—

बरामदे में छोटी-सी लालटेन जल रही थी। मेरी कोठरी के सीखचों से थोड़ी-थोड़ी रोशनी आ रही थी जिससे न अँधेरा दूर होता था न प्रकाश ही होता था। मैं सीखचों को पकड़ बरामदे के झरोखों मे झटके तारों को देख रहा था। अँधेरी रात, अँधेरी कोठरी, मैं जेल में था।

बरामदे में बैठा सिपाही जुराब उतार पैरों को रगड़ रहा था। कभी कोई गाना गुनगुना देता, तो कभी अपना डण्डा पटककर अपने अस्तित्व की सूचना देता।

जब दिन-रात सीखचों के पीछे काटने हों तो न दिन की महत्ता है, न रात की ही। समय लकड़ी पकड़ धीरे-धीरे रेंगता है। कई खुशनसीब ऐसे हैं, जो मुसीबतों और दिक्कतों के बावजूद सो लेते हैं; पर कई मुझ-जैसे बद-नसीब भी हैं जिनके पास नींद लाख खुशामद करने पर भी आने का एहसान नहीं करती।

मैं सीखचे पकड़कर कभी खड़ा होता तो कभी उचक-उचककर दूर देखने की कोशिश करता, बन्द जानवर की तरह कोठरी का चक्कर लगाता।

अंधकार ने मेरी दुनिया को और भी संकुचित कर दिया था—मैं और सीखचे, दस फुट लम्बी और छः फुट चौड़ी कोठरी—बाहर अँधेरा, अन्दर अँधेरा। मैं घुट रहा था। बेचैन। कभी खड़ा होता, कभी बैठता। बेचैनी बढ़ती जाती।

सन् बयालीस के दिन। बाहर से सत्याग्रहियों के जत्थे-पर-जत्थे आ रहे थे, पर अन्दर से कोई बाहर नहीं जा रहा था। ढोर-डंगरों की-सी थी जिंदगी हमारी। बाहर की दुनिया मेरे बिना चली है और चलती रहेगी, पर मैं इसके बिना अचल-सा हो गया था। जकड़ दिया गया था। डिब्बे में बन्द-सा था।

बेचैनी में मैं कुछ गुनगुनाने लगा। सिपाही ने लालटेन उठाई और मेरी तरफ देखने लगा। उसके चेहरे पर मुसकराहट थी। न जाने उसने कितनों को मेरी तरह घुटते देखा होगा; और न जाने वह खुद ही कितने सालों से वहाँ घुट रहा था। शायद वह भी मुझ-जैसा बेचैन, अकेला, बेहाल था। सिपाही पूछ बैठा, "आप कहाँ के रहनेवाले हैं?"

"वुय्युरु।"

"वह तो पास ही है, इसी जिले में है।"

"हूँ।"

"आपका कोई रिश्तेदार नहीं आता। आज वह जो पहली कोठरी में हैं न मुन्सिब, उनसे मिलने के लिए बहुत सारे लोग आये थे। हेड-कान्स्टेबल की जेब अच्छी गर्म हुई।"

"हम तो खतरनाक कैदी समझे जाते हैं—क्रान्तिकारी। रिश्तेदारों को भी मिलने की सख्त मनाई है।"

"मनाई तो खैर, उनके लिए भी है। जेल के कानून-कायदे ऐसे ही हैं। जब तक कैदी जेल में सही-सलामत है, सब नियम तोड़े जा सकते हैं।"

"...और तोड़े भी जाते हैं।"

"नहीं तो, आप ही बताइये गरीबों का गुजारा कैसे हो—सरकार जो वेतन देती है वह तो पन्द्रह दिन भी नहीं चलता।"

"इसलिए कैदियों को चूसना कौन-सा अच्छा काम है।"

"जब पेशा ही कैदियों की निगरानी हो, तब और कहाँ से एंठें। यों ही थोड़े एंठते हैं ? काम करते हैं और पैसे वसूल करते हैं। खतरा क्या कम है ? पकड़े जायें तो नौकरी से हाथ धोने पड़ें।"

वह कहता-कहता उठा, और लाठी ले, हर कोठरी को देखता हुआ चक्कर काटने लगा। बातें चाहे कैसी भी हों, जबान तो हिली। मैं सीखचे के पास बैठ गया। अब लालटेन भी न थी। सब जगह अँधेरा था। निःशब्द।

चक्कर लगाकर वह सिपाही मेरे सामनेवाले खम्भे के पास लालटेन धरकर बैठ गया। सिर खुजाते-खुजाते जैसे कुछ याद आ गया हो, कहने लगा, "आपने कहा कि आप वुय्युरु के रहनेवाले हैं ?"

"हाँ।"

"पामर्रु वहाँ से कितनी दूर है ?"

"चार-पाँच मील के लगभग।"

"तो क्या आप लक्ष्मय्या को जानते हैं ?"

"कौन लक्ष्मय्या ?"

"वकील लक्ष्मय्या।"

"जानता तो नहीं, पर नाम जरूर सुन रखा है। क्यों, क्या बात है ?"

"वह भी इसी जेल में थे—तब मैं भी यहाँ था, वह जो दूसरी कोठरी है, फाटक के पास, वहीं वह रहा करते थे। क्या आराम थे उनके ! क्या ठाट ! वह थे जिन्दादिल आदमी। पैसे की बात है, हर चीज उनको जेल में मोहय्या होती थी—पलंग, बिस्तर, कपड़े, किताबें, हर चीज। यहाँ तक कि खाना भी बाहर से आता था।"

"क्यों, कितने दिन रहे यहाँ ?"

"दिन तो क्या ? आठ महीने से ऊपर मुकद्दमा चलता रहा। वह खुद अपनी वकालत करते थे, आखिर बरी भी हो गये। रुपये की कीमत ही न थी। जिसने न माँगा उसी का कसूर। अच्छे बड़े रईस थे। सुनते हैं, सौ एकड़ की खेती थी, मुकद्दमा खतम होते-होते पचास एकड़ रह गये, पिस गये। मुकद्दमा कम्बख्त चीज ही ऐसी है। शिकंजा है। जब फँस गये तो निक-

लना मुश्किल। आदमी आले दर्जे के थे। कई पढ़े-लिखे देखे हैं पर उन जैसा जानदार, दिलेर आदमी नहीं देखा। क्या चुस्त! क्या अक्लमन्द! उनके हाथ कटे हुए थे—बारूद से जल गये थे। पर उसी हाथ से लिखते थे, और कितना तेज! खाना भी उन्हीं हाथों से खाते थे। सब काम खुद ही करते थे। रईस घर के ठहरे। इधर-उधर के काम हम किया करते। सबको पैसे मिलते थे, हेड-कान्स्टेबल से लेकर मेहतर तक।"

"तब तो तुम उन्हें कोठरी में भी बन्द न करते होगे?"

"नहीं तो। दिन-भर बाहर ही रहते। जेल के बाहर नहीं, अन्दर ही, बरामदे में कुर्सी लगाकर मुकद्दमे की तैयारी करते। कोई अफसर-वफसर आ जाता तो अन्दर बन्द कर देते। आदमी बहुत भले थे—गौ। निर्दोष थे। गाँववालों ने साजिश करके जेल में डलवा दिया था। सारा गाँव एक तरफ और वह एक तरफ। बेकसूरवार ठहरे, बाजी मार ले गये। अब कहाँ हैं, आपको मालूम है?"

"मुझे नहीं मालूम। बहुत अरसा हुआ मैं इस इलाके से बाहर चला गया था; और अब आते ही जेल की सैर करनी पड़ी। आखिर केस क्या था?"

"अजी, केस तो क्या? गाँववालों ने उन पर एक झूठा मुकदमा लगवा दिया था। हर्जाना देना पड़ा। कोई ऐसे-वैसे थे क्या? कानून पढ़ा-लिखा था, साफ बाहर निकल गये। अपील भी हुई। गाँववालों की दाल गली नहीं। कैसे गलती भला? दुनिया में सच भी तो कोई चीज है?"—कहते-कहते वह अपनी सफेद मूँछों को मरोड़ने लगा जैसे बहुत तजुर्बे की बात कह दी हो।

"फिर भी केस क्या था?"

"यूँ ही ऊटपटांग केस। उन पर पत्नी के कत्ल का इलजाम था। साबित न हुआ। पत्नी तो अलग, वह तो किसी पर हाथ भी न उठा पाते थे। बहुत ही रहमदिल, शरीफ़।"

"यानी, उनकी पत्नी जिन्दा है?"

"नहीं, जिन्दा तो नहीं, पर उन्होंने नहीं मारा था।"

"तो किसने मारा था?"

"किसी ने भी नहीं। उन्होंने खुदकशी कर ली थी। आप जानते हो हैं औरतें अजीब होती हैं। थोड़ा-सा दर्द हुआ नहीं कि ज़हर निगलने की धमकी देती हैं। कुछ अनबन हो गयी होगी, ऐसी बातें तो घर में होती ही रहती हैं। कोई ज़हर निगल लिया। अदालत का भी यही फ़ैसला था। बात सही थी। अदालत को धोखा देना मुश्किल है। आठ-दस महीने मुकद्दमा चला। उस तरफ तीन वकील काम कर रहे थे, यह बेचारे अकेले थे, तिस पर जेल में बन्द। छक्के छुड़ा दिये। जीते भी।"

"उनकी पत्नी ने कैसे खुदकशी कर ली थी?"

"ज़हर निगल लिया था।"

"कोई खून-खराबी नहीं हुई?"

"कुछ नहीं, डाक्टरों की रिपोर्ट पढ़ी गयी। कहा गया कि उनका गला घोंटा गया है—सब जाली गवाही। बेचारे के हाथ नहीं, गला क्या घोटेंगे?"

मैं कहना चाहता था कि जब बेहाथ का आदमी सब-कुछ कर लेता है तो एक औरत का गला भी बखूबी घोंट सकता है। वह इस सिपाही के लिए बेकसूर थे। अदालत का भी यह फ़ैसला था। मैं चुप रहा।

ट्राम रुकी। मैं उतरा और सुनसान गली में चल दिया। दिन की भीड़ कहीं आराम कर रही थी। मैं अकेला घर की ओर चला जाता था। अब भी स्मृतियों का उफान-सा आ रहा था। दिल में कितनी बातें! कितनी खलबल! ऐसा लगता था, मानो चारों ओर भीड़ है और मैं धक्कामुक्का कर आगे बढ़ता जा रहा हूं।

* * *

आँधी-सी आई, चली गयी। मेरे मन से उनके बारे में ख्याल जाते रहे। मेरा और उनका रास्ता भिन्न और दूर था। वह एक बेफिक्र वकील, और मैं छोटा-सा पत्रकार। दोनों की अलग-अलग दुनिया।

करीब चार बरस बीत गये। मुझे एक बार कोर्ट जाना पड़ा। अख-बार के मालिक ने रात-दिन काम करवाकर तनख्वाह मार ली थी। कोर्ट की शरण लेनी पड़ी। एक वकील दोस्त को केस सौंप दिया था। इत्मीनान

से बरामदे मे उनकी इन्तज़ारी कर रहा था।

मेरे दोस्त, लक्ष्मय्या के साथ फाटक से चले ग्रा रहे थे। मैं चौंक पड़ा, न जाने क्यों ? कोर्ट है, वह वकील हैं, उनका ग्राना-जाना रोजमर्रा का काम है। मुझे चौंकना नहीं चाहिए था, फिर भी उन्हें देखते ही मुझमें कुछ झिझक पैदा हुई। सोचने लगा ऐसा न हो वह मुझे पहचान लें, ग्रच्छा हो वह किसी ग्रौर रास्ते से निकल जायें।

मैं सोच ही रहा था कि मेरे वकील मेरे सामने ग्रा खड़े हुए। उनके साथ वह भी थे। वकील ने मेरी तरफ इशारा करते हुए लक्ष्मय्या से पूछा, "ग्राप इन्हें जानते हैं ?"

वह मुझे बड़ी बारीकी से देख रहे थे——छोटी-छोटी चुँधियाती ग्राँखें——क्रूर, बेरहम, सन्देही, झुर्रियोंवाला खुश्क चेहरा, भुने होठों में सुलगती सिगरेट। बोले, "नहीं।"

"ग्राप रामाराव हैं। पत्रकार हैं। ग्रपनी तरफ के हैं। शायद ग्रापके गाँव के नज़दीक के भी।" वकील ने बड़े गर्व से मेरा परिचय कराया जैसे मेरी जान-पहचान से उसका कोई मान-सम्मान होता हो।

"हूँ।" लक्ष्मय्या ने डकार-सा दिया। शिष्टाचार के नाते मैने हाथ जोड़ दिये। वह मुसकराये भी नहीं। हाथ तो खैर क्या जोड़ते ? मुझे इस तरह घूरा जैसे मैं कोई पुश्तैनी दुश्मन हूँ, या ग्रफसोस हो रहा हो कि मुझसे परिचय क्यों हो गया। सिगरेट का धुग्राँ छोड़ा ग्रौर ग्रागे बढ़ गये। मेरे दोस्त से भी कुछ न कहा मानो हमारी सोहबत में पाया जाना गुनाह हो।

"सनकी है···बिलकुल गँवार···!" मेरे दोस्त ने कहा।

"जाने भी दो, ग्रपनी-ग्रपनी ग्रादतें हैं।" वह तो चले गये पर मुझे ऐसा लगा कि वह मेरे सामने धरना देकर बैठे हों ग्रौर पूछ रहे हों कि 'तुम ग्राये क्यों ? हमारा-तुम्हारा परिचय हुग्रा ही क्यों ?'

मेरे दोस्त मारे गुस्से के उबल रहे थे——"क्या ग्रदब से पेश ग्राया ! कम्बख्त ने वे जले-भुने होंठ भी नही हिलाये। मुवक्किल ग्रायें तो कैसे ग्रायें ? इन चिढ़चिढ़े ग्रसभ्य बेकारों के पास कोई भूल करके भी नहीं ग्रायेगा।"

"छोटी-सी बात है, क्यों बतंगड़ बना रखा है ? मुकद्दमें मिलें या न मिलें, वह तो घर के अच्छे रईस हैं।"

"तब वकील काहे को बना फिरता है ? घर बैठा मजे उड़ाये। रईस को क्या पैसा काटता है ? मिलने लगे तो दोनों हाथों से बटोरेंगे।"

"तुम्हारे तो अच्छे दोस्त है।"

"दोस्त तो क्या, यूँ ही बस में मिल गया था। मैं इसको खूब जानता हूँ। अव्वल दर्जे का चार सौ बीसिया है। तुम्हें शायद मालूम नहीं है।"

"पहले अपने मुकद्दमे का क्या हुआ ?"

"मैंने तुम्हें चिट्ठी लिखी थी। मिली नहीं ? वह पैसे देने को राज़ी हो गया है। तुम्हें डराना चाहता था। ऐसा-वैसा समझ लिया होगा। जब मुकद्दमे का नाम सुना तो धोती ढीली पड़ गयी। आज ज़रा काम हल्का है; और सवेरे-सवेरे इस कम्बख्त के दर्शन भी हो गये। चलो, कॉफी पी आयें।"

कॉफी होटल में हम दोनों एक कोने में जा बैठे। बातों के सिलसिले में मेरे दोस्त ने पूछा—

"तुम इस लक्ष्मय्या को नहीं जानते ?"

"नाम सुन रखा है। छुटपन में देखा भी था। पिताजी की ज़िद चलती···" मैं कहता-कहता सम्भल गया और मेरा दोस्त बोल उठा—"तो जूते लगवाते !" मैं मुसकरा दिया।

"रईसी को रखो अलग—हाथ नहीं, प्रेक्टिस नहीं, प्रतिष्ठा नहीं, और इसे इतना घमंड ?"

"जिनके पास कुछ और नहीं होता, घमंड अधिक होता है। अच्छा ही है, घमंड की वजह से जो उनके पास नहीं है, पाना भी नहीं चाहते, मिल जाय तो दूसरी बात है।"

"वाह, खूब कही—'पाना भी नहीं चाहते !' किसी पैसेवाली विधवा को फँसाने की फिराक में है। यह भी कौन-सा खूबसूरत है कि औरतें इतनी आसानी से इस पर लट्टू हो जाती हैं। यूँ तो देखने को साबुत भी नहीं, टुँडा है। पर मानना पड़ेगा, गजब का है, सब काम अपने आप कर लेता है—कत्ल

तक, कानून तो कानून ही ठहरा, सफेद को काला बना दो, काले को सफेद।"

"पर उनकी तो शादी हो चुकी है।"

"एक नहीं, दो बार, और पत्नी को छोड़े भी जमाना हो गया है। जल्लाद है। एकदम ज़लील। एक का तो गला घोंट दिया था। दुनिया जानती है, भले ही अदालत ने आँखें मूँदकर काम किया हो।"

"क्या मतलब?"

"इसने पैसे के लिए शादी की थी—वह विधवा थी। तब इसके हाथ कट चुके थे—कोई शायद इससे शादी न करना चाहता था। जब से शादी हुई इसे ऊटपटांग शक होने लगा—उसे कभी बाहर न जाने देता, घर के अन्दर भी ठीक तरह न रहने देता। उसका यह ख़्याल था कि उसके टुंडे होने की वजह से उसकी पत्नी अपने पहले पति को याद करके रोती थी—सच बात यह थी कि वह इससे परेशान थी। एक-दो बार कहीं बिना इजा-ज़त के बाहर चली गयी। वह भुन उठा; और एक दिन काम तमाम कर ही दिया। एकदम कमीना। शक्की तो है ही, ऐसा ईर्ष्यालु भी मिलना मुश्किल।"

"दूसरी शादी भी तो की थी उसके बाद?"

"की तो थी। शायद तुम्हें मालूम नहीं है। अच्छी-भली औरत थी। दूर की रिश्तेदार भी। वह वकील तो था ही। गाँववाले गाँववाले ठहरे, तिस पर गरीब···

"लक्ष्मय्या और उसकी उम्र में दस-बारह वर्ष का अन्तर था। लड़की की उम्र बीस-बाईस की थी। दहेज नहीं दे पाते थे। इसलिए बहुत दिनों तक शादी नहीं हुई थी।

"एक-डेढ़ साल तो मजे में रहे। बच्चे भी न थे। पर बाद में इसे लगा कि उसकी पत्नी पहले की तरह प्रेम नहीं करती थी, कोई भी नहीं करता। शादी के पहले का प्रेम एक तरह का होता है और बाद का दूसरी तरह का। सनकी था। शक करने लगा। हाथ तो थे नहीं इसलिए हर हाथवाला इसे लगता कि इससे अच्छा है और इसकी पत्नी के पीछे लगा हुआ है।

"पत्नी भी खूबसूरत थी। सन्देह इसके सिर पर सवार था, सोचने लगा

होगा—पंद्रह साल शादी से पहले कैसे रही होगी ? कोई-न-कोई तो गल्ती की होगी। जैसे खुद दूध का धुला हुआ हो। दिन-रात उस बेचारी को सताता। सच बोलती है तो इसे यकीन नहीं होता, झूठ बोलती है तो आफत। चुप रहती। इसका सन्देह पक्का होता गया। कई बार उस पर हाथ भी उठाया। गरीब स्त्री क्या करती ? कहाँ जाती ? सब-कुछ सह लेती। लहू का घूंट पीकर रह गयी।"

"थी तो बहुत खूबसूरत। मैंने भी उन्हें एक बार सिनेमा हाल में देखा था। अब वह कहाँ हैं ?" मैंने पूछा।

"सरकार ने जो औरतों के लिए आश्रय-गृह खोल रखा है, उसमें है। इसने उसे बाहर कर दिया। थोड़े दिन तो रिश्तेदारों के घर भटकी-भटकी फिरी—पगली-सी। कुछ दिन अस्पताल में भी रही। अब कोई काम वगैरह सीख रही है।"

"हाँ तो तुम कह रहे थे।"

"हाँ......हाँ—इनके घर के पास अपनी तरफ का एक वकील रहता था। शायद तुम भी जानते होंगे। उमामहेश्वरराव—मोटा-मोटा, लम्बा-चौड़ा, काला-काला, विजयवाड़ा का है, जानते नहीं ?"

"नहीं, याद नहीं।"

"वह लक्ष्मय्या के साथ प्रेक्टिस में साझेदार था। वह भी पैसेवाला है, रईस तो नहीं, बिना वकालत की आमदनी के गुजारा हो जाता है। यूँ तो आमदनी है भी नहीं। वह इनके यहाँ आया-जाया करता था। उसकी पत्नी की और इसकी पत्नी की भी अच्छी दोस्ती थी। उसकी पत्नी को तो तुम जानते होगे ...वसुन्धरा। अपने राजेश्वरराव की पत्नी की बहन।

"यह जनाब कहीं बाहर गये हुए थे। उमामहेश्वरराव को कुछ काग-जात वगैरह देखने के लिए इसके घर जाना पड़ा। किसी मुकद्दमे के कागज थे। वहीं बैठकर पढ़ने लगा। शाम का वक्त था—इसकी पत्नी ने, यानी लक्ष्मय्या की पत्नी ने उसे शिष्टता के नाते कॉफी दी। उसने कॉफी पीकर प्याला मेज पर रख दिया। वह अन्दर रसोई में काम करती रही।

"बदकिस्मत समझो, ज्यों ही कप लेने उस कमरे में वह आयी, लक्ष्मय्या भी कमरे में घुसा। एक दिन पहले ही बेवक्त वापस आ गया था। इस तरह की चालों से वह पत्नी को परखा करता था। उसने अपनी पत्नी को मुसकराते, कप उठाते पाया।

"उमामहेश्वरराव वहीं पर बैठा हुआ था। लक्ष्मय्या आग हो गया। इधर-उधर देखा, बेचैनी से, गुस्से में। उमामहेश्वरराव समझ गया और चला गया।

"फिर क्या था, यह 'पढ़ा-लिखा, सभ्य' वकील अपनी पत्नी को अन्दर ले जाकर धुनने लगा। वह बेचारी रोयी-पीटी भी नहीं, कहीं ऐसा न हो कि आस-पासवाले सुन लें और नाहक इसकी बदनामी हो। यह बेदिल का हैवान भला पत्नी का दिल क्या समझता? अपने सन्देह को उगलता जाता था—गालियों में, डाँट-डपट में, मारपीट में, कइयों के नाम गिन डाले—जिन-जिन पर उसे शक था—एक एक करके पूछा, सब जान-पहचानवालों के, हाथवालों के। आखिर है तो औरत ही, कितना सहती? होश-बेहोशी में जो कुछ इसने कहा मान गयी। इसकी क्रूरता ने एक अच्छी-भली औरत को पीट-पीटकर कुलटा बना दिया। घर से बाहर निकाल दिया। औरत जहाँ 'बिगड़ी' कि नहीं, बिगड़े सम्बन्धी भी पास नहीं फटकते। किसी दूर के रिश्तेदार को दया आ गयी और उसे लिवा ले गया। कुछ दिन इधर-उधर भटकी भी। ये हैं इस 'शिक्षित' व्यक्ति के कारनामे!"

"इतना होने पर भी क्यों फिर औरतों को फाँसने के लिए दाँव-पेंच खेलते हैं?"

"तुम्हें क्या बताऊँ? बात सीधी-सी है। ऐसे लोग अक्सर एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक नमूने बन जाते हैं। वही हाथ का सवाल है। यह दुनिया को दिखा देना चाहता है कि हाथ के न होते हुए भी वह किसी हाथवाले से कम नहीं है। बेहाथ का था इस वजह से इसकी शादी क्वारी लड़की से न होकर विधवा से हुई, यह ख्याल इसे बींधता रहता है। इसलिए शादी-पर-शादी करके दिखा देना चाहता है कि औरों से अधिक ही है। इस तरह इसके

अभिमान को आधार मिलता है।"

"अच्छी दुनिया है यह ! कत्ल करो, अत्याचार करो, धोखा दो, फिर भी वकील बन न्याय की रक्षा करो। खैर, जाने भी दो।"

"जाने दो ? ऐसों को तो खुलेआम सूली पर चढ़ाना चाहिए।"

"शायद वे भी विवश है…"

१२

शिकंजे में

उन्होंने तकिये पर से सिर उठाया। आँखें फाड़-फाड़कर बन्द दरवाज़े की तरफ देखा, धीमे से कहा, "वह अभी नहीं आये ?"

फिर यकायक सिर को तकिये पर गिरने दिया जैसे प्रश्न का उत्तर मिल गया हो। रूखे-सूखे, मुरझाये चेहरे पर ग़मी का कफ़न-सा खिंचा हुआ था। बड़ी-बड़ी आँखें किसी को एकटक देखती-सी लगती थीं।

उन्हें शायद लग रहा था कि कोई बरामदे में चहलकदमी कर रहा था। वह उनकी पगध्वनि सुनने की कोशिश करतीं। पर शायद उनको इसका भी शक था कि वह नहीं आये। कभी मुसकरातीं तो कभी पथरा-सी जातीं। किसी पशोपेश में थीं। बेचैन। सिर तकिये पर और आँखें दरवाज़े पर।

······जब से बच्चा पैदा हुआ था यही प्रश्न रह-रहकर पूछ रही थीं—मंत्र की तरह। आँखें कभी बन्द करतीं तो कभी खोलतीं। उनमें प्रतीक्षा की चमक भी थी और निराश की छाया भी। प्रसन्नता और दुःख। अजीब अवस्था में थीं। पास पड़े बच्चे को देख, एक क्षण खुशी से खिल उठतीं तो दूसरे क्षण बन्द दरवाज़े को देख बरबस आह निकलती—"वह नहीं आये ?" खिझ जातीं, बच्चे की तरफ से सिर मोड़ लेतीं। थोड़ी देर आँखें बन्द कर लेतीं।

उन्होंने पुत्र-जन्म पर लोगों को मारे खुशी के पागल होते देखा था, नगाड़े बजते सुने थे, रुपये को पानी की तरह बहाता देख, दाँतों तले उँगली दबायी थी। पतियों को इन्तजारी में बेतहाशा चहलकदमी करता पा, वह अक्सर हँसी भी थीं।

वह यह नहीं चाहतीं कि आज नगाड़े बजें, रुपया पानी की तरह बहाया जाये, दावतें हों या कोई चहलकदमी भी करे। यह उनकी पहली सन्तान न थी। दो लड़कियों की माँ हैं। वह सिर्फ़ इतना चाहती थीं कि उनके पति अपने पुत्र को एक बार निहार लें। बहुत दिनों की मुराद पूरी होती देख लें। बच्चे को दुलार लें।

उन्होंने फिर कोशिश करके सिर तकिये से उठाया। इस बार उनकी नज़र दीवार पर लगी घड़ी पर थी। घड़ी में दस बज रहे थे। होंठ हिले। हल्की-सी ध्वनि निकली—"गाड़ी तो आ गयी होगी, वह आते ही होंगे।" बच्चे को चूमने लगीं।

* * *

उनके पति पासवाले गाँव में स्कूल-मास्टर हैं। वह स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियों में गिने जाते हैं। उनका पत्नी से कोई झगड़ा नहीं। वह परिवार से भी अनासक्त नहीं। ढलती उम्र है। खराब आदतें हों, ऐसी बात भी नहीं। वेश्याओं के चक्कर में पड़े हुए हों, सो भी सच नहीं। पर यह इत्तफ़ाक की बात नहीं है कि वह आज अस्पताल में हाज़िर नहीं हैं।

वह यह जानते हैं कि पत्नी अस्पताल में है। पैदल भी चलते तो अब तक शहर पहुँच जाते। परन्तु वह ताश खेलने में मस्त हैं। छुट्टियों के दिन हैं।

घड़ी ने अपनी परिधि की परिक्रमा की। बच्चे की आयु एक और घंटा बढ़ी। माँ की बेचैनी भी बढ़ती जाती थी। गाँव में ताश का नया खेल शुरू होने को था। पत्ते कट चुके थे।

नर्स उनकी बेचैनी देख, खिड़की खोल इधर-उधर देखने लगी। बरा-मदे में उनका सारा परिवार एकत्रित था, पर पति न थे। खिड़की बन्द कर नर्स दरवाजे की तरफ बढ़ी। इतने में मरीज चिल्ला उठीं—"आ गये न वह ? मुझे उनकी आवाज सुनाई दी है, खोलो दरवाजा, उनको अन्दर बुला लाओ।"

नर्स घबरायी। आनाकानी करने लगी।

"मैं कहती हूँ, दरवाजा खोलो !" वह अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकती थीं। वह उस सीमा तक पहुँच चुकी थीं, जहाँ आशा और निराशा के छोर मिलते हैं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें बर्फ हो गयी थीं। बिखरे हुए बाल। तना हुआ चेहरा, पीला-पीला, काँपता हुआ, रौद्र प्रतिमा-सी पर मायूस, नादान, बेचारी। उनकी आवाज में आज्ञा की गूँज थी।

नर्स ने न माना। वह बिस्तरे के चारों ओर घूमने लगी। बच्चे को कपड़े से ढकती, चार्ट देखती, कम्बल ठीक करती। बरामदे में किसी के जाने की आवाज आयी और ललिता नर्स को मनाने लगीं––"खोल भी दो, देखो दिक न करो, वह आ गये हैं।"

नर्स ने दरवाजा खोल दिया। परिवार के लोग आये––दो लड़कियाँ, दो बहन और दो-चार व्यक्ति। मगर उनकी नजरें खुले दरवाजे पर गड़ी किसी का इन्तजार कर रही थीं। "वह नहीं आये !" मुख से आह निकली और वह बेहोश हो गयीं। और उधर पति ने बाजी मार ली थी––पूरे पन्द्रह रुपये जीते थे। ताश के पत्ते हाथ में थे और हँसते-हँसते सिगरेट का धुआँ उगल रहे थे।

* * *

श्रीमती ललिता शहर की मानी हुई डाक्टर हैं। अच्छी प्रेक्टिस है। कितने ही परिवारों के लिए वह न केवल डाक्टर है किन्तु सलाहकार भी। बहुत धनी तो नहीं कहना चाहिए पर गरीब न थीं। उनकी प्रेक्टिस में सेवा की भावना अधिक थी, बजाय पैसे कमाने की।

उनका खानदान न पुराना है, न प्रतिष्ठित ही। खानदान की मान-प्रतिष्ठा डाक्टर के कारण ही है। बाकी औरों के बारे में न किसी को कहते सुना है, न सुनते देखा है।

उनकी दोनों लड़कियाँ मद्रास में पढ़ रही हैं। एक अर्थ-शास्त्र आनर्स में और दूसरी इण्टरमीडियेट में। बड़ी की उम्र बीस की है और छोटी की अट्ठारह के करीब। बाद में दो सन्तानें और हुई, पर गुजर गयीं।

डा० ललिता की उम्र भी अधिक नहीं, शायद अभी चालीस भी पूरे

नहीं हुए हैं, पर देखने से ऐसा लगता कि मानो पचास के आस-पास हों। साज-श्रृंगार से कोसों दूर रहतीं। वह एक निराडम्बर जीवन व्यतीत करती थीं।

भगवान ने बहुत-कुछ दे भी रखा था। अच्छा मकान, अच्छी प्रेक्टिस, अच्छी आमदनी, घर-बार, सन्तान, जमीन-जायदाद सभी-कुछ था। पर शायद एक चीज न थी जिसके विना डा० ललिता को ये सब बेकार लगते थे——पति का निरन्तर प्रेम। पति की उदासीनता उन्हें मुखाये जाती थी।

वह इनके साथ नहीं रहते थे। सिर्फ छुट्टियों में बच्चों को देखने-दाखने के लिए आ जाया करते थे। तब भी वह अपनी पत्नी से ऐसे बचे-बचे फिरते जैसे स्कूल के लड़के उनसे बचे-बचे फिरते थे।

वह घरबार के खर्च के लिए भी पैसे न देते थे। डाक्टर की अपनी कमाई इतनी थी कि उनके पति के साठ रुपये के बिना ही घर का गुजारा मजे से होता था। डाक्टर ने कभी उनके सामने किसी प्रकार की माँग न की। वह खुद ही अपना सारा काम देख लेती थीं। न उन्हें आभूषणों की अभिलाषा थी, न कपड़ों की ही। अभिलापा थी, तो पति-प्रेम की। वह चाहती थीं कि पति साथ रहें, भले ही खाली रहें, कुछ न करें।

उनके पति ने भी घरबार के कामों से इस तरह किनारा कर रखा था जैसे उनसे कोई मतलब ही न हो। जब डाक्टर ललिता ने जैसे-तैसे उनका अपने शहर में तबादला भी करवा लिया तो उनको इतना गुस्सा आया कि घर में तीन-चार दिन तक खाना नहीं खाया। डाक्टर ने भी मुख में कौर नहीं रखा। चारपाई की भी शरण ली। पति ने बहुत दौड़-धूप कर अपना तबादला फिर गाँव में करवा लिया। सुनते हैं, डा० ललिता ने खुद जाकर इस विषय में अफसर से बातचीत की थी।

हाँ, तो रुपये-पैसों के बारे में बात हो रही थी। वह अपना लगभग सारा वेतन जुए में उड़ा देते थे। जो कुछ बचता वह सिगरेट और काफी-होटल के लिए खर्च हो जाता था। हमेशा कर्ज रहता। सिवाय इनके, उनको और कोई बुरी आदत न थी। चलन-चालन में बहुत अच्छे थे। चौबीसों

घण्टे अपनी मस्ती में रहते। न बच्चों की फिक्र, न पत्नी की परवाह।

सारा शहर यह जानता है और इनकी बुराई करता है। सबकी सहानुभूति डाक्टर से ही है। बच्चे भी माँ से हिले हुए थे। उनके लिए पिता का होना न होना बराबर था। लोगों में उनके पिता की—अमुक डाक्टर के पति के अतिरिक्त कुछ भी हैसियत नहीं थी। इस निन्दा के बावजूद डा० ललिता का पति अपने को अपराधी नहीं समझता था। बढ़ती उम्र के साथ उसकी उदासीनता भी बढ़ती जाती थी।

पति को यदि ताश की बुरी आदत थी तो कहना होगा, डा० ललिता को भी एक बुरी लत थी। वह अपने परिवार का किस्सा हर किसी को वक्त-बेवक्त सुनाया करतीं। शायद सुनाने से उनका दिल हल्का होता था।

वह अक्सर अपने मरीजों से कहतीं—"न जाने मेरा भी क्या अजीब भाग्य है! भगवान ने सब-कुछ दिया है। रत्न जैसे पति हैं। चाहे वह जैसे रहें पर मेरे पास रहें। यह क्या बदकिस्मती? उन्हें दूर रहना ही पसन्द है। वह भटके हुए होते तो मैं अपने को समझा लेती। उन जैसा अच्छा आदमी मिलना मुश्किल........" ऐसी बातें कितनी ही बार कितनों ही से कहतीं।

जहाँ डा० ललिता की प्रसिद्धि थी वहाँ उनके पति की बदनामी थी। डाक्टर से सहानुभूति प्रकट करने के लिए लोग उनके पति की आलोचना किया करते। वह कुछ शिष्टता के कारण तो कुछ सचाई की वजह से चुप ही रहा करतीं। यह उनके पति को मालूम था।

डा० ललिता, जो यह सोचती थीं कि पति-भक्ति अपने-आप में पर्याप्त है, अपने को हमेशा निर्दोष पातीं।

* * *

डा० ललिता अन्दर आराम कर रही थीं, और उनको देखने के लिए औरतों की एक भीड़ बरामदे में जमा हो गयी थी। रिश्तेदार, जानने-पहचाननेवाले, पड़ोसी, दोस्त। डा० ललिता की खुशी में सभी खुश थे।

कमरे का दरवाजा बन्द था, पर खिड़कियाँ खुली हुई थीं। उनमें बातें चल रही थीं। एक ने कहा—"सत्यनारायण व्रत का माहात्म्य देखा, चार लड़कियों के बाद लड़का।"

एक और स्त्री कह रही थी, "ऐसी औरत मिलनी मुश्किल। अच्छी पढ़ी-लिखी हैं, पर बेहद सीधी-सादी। गरीब और अमीर में कोई फर्क नहीं करतीं। फीस दो तब कोई खुशी नहीं, न दो तब नाखुशी नहीं।"

"सुना है, वह अभी नहीं आये हैं!"

"भले आदमी हैं पर शायद पुर्जा ढीला है। किसी और की ऐसी पत्नी होती तो बस······क्या कहूँ?"

"वह इनके साथ क्यों नहीं हमेशा रहते? साल में दो महीने के लिए घर आते हैं और बच्चे पैदा हो जाते हैं, कोई जिम्मेवारी नहीं। क्या आदमी हैं?"

"आदमी तो बहुत भला है, पर ऐसा क्यों करता है?"

बातें चलती ही जातीं अगर इस बीच दरवाजा न खुलता। चपरासी चिट्ठी लेकर निकला और झट दरवाजा बन्द कर दिया गया। एकत्रित स्त्रियों की उत्सुकता बढ़ी। पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि डा० ललिता के पति के पास चिट्ठी देकर आदमी भेजा जा रहा है।

एक वृद्धा ने पान लगाते हुए कहना शुरू किया, "पढ़-लिखकर भी बेचारी तकलीफें ही सहती आयी है। पढ़ते वक्त पैसों की दिक्कत, अब पढ़-लिखकर कमा रही है तो एक और दिक्कत। उसके नसीब में सुख ही नहीं लिखा है। अब पुत्र जनमा है, देखें तकदीर किस तरफ करवट लेती है?"

बुढ़िया ने पान मुख में रखा, खंखारा और कुछ याद करती हुई-सी कहती चली गयी—

"जब इनकी शादी हुई थी तो ऐसा लगता था जैसे दोनों एक दूसरे के लिए ही पैदा हुए हों। फूल-सी यह और रत्न-सा वह। दोनों एक ही स्कूल में पढ़ते थे। यह उससे तीन जमात नीचे थी। शादी के समय वह ट्रेनिंग पास कर चुका था और किसी स्कूल में लगा हुआ था। यह भी स्कूल फाइ-

नल तक पढ़ चुकी थी। दोनों एक ही तराजू के दो पलड़े-से लगते थे।

"शादी के बाद एक दूसरे से चिपके-चिपके फिरते थे--चकवे-से। बाहर जाते तो साथ। खाना खाते तो साथ। पढ़े-लिखे थे। जैसी मर्जी वैसा करते थे। खुशी-खुशी में दो-तीन साल गुजर गये। फिर यकायक इनके सुख पर बिजली-सी गिरी। पिता अचानक खेत में खड़े-खड़े गुजर गये। गर्मी के दिन---वे दिन जब आकाश जलता है और जमीन भी उबलती है, लू के शिकार हो गये।

"पिता क्या गये कि इन पर आफत का पहाड़ टूट गया। बड़ा कुटुम्ब था। इसका पति ही सबसे बड़ा था। दो भाई और दो बहनें। कर्ज भी बहुत था। पिता के मरते ही कर्जवाले भी गिद्धों की तरह टूट पड़े। जो थोड़ी-बहुत जमीन थी, हड़प ली, पर कर्ज फिर भी बाकी रहा। लड़के तो जैसे-तैसे अपने पैरों पर खड़े हो जाते हैं, लड़कियों को ही सहारे की जरूरत होती है। उनकी शादियाँ वगैरह करनी थीं।

"उसकी अपनी तनख्वाह कितनी थी? घर का गुजारा करता या कर्ज चुकाता या फिर बहनों के दहेज के लिए जमा करता? कमजोरी हो या लाचारी, जिम्मेवारी तो जिम्मेवारी ही है; निभानी पड़ती ही है। बहुत कोशिश की, पर कुछ काम नहीं बना। गाँव में आटे-दाल की दुकान भी खोली, पर नुकसान हुआ। ट्यूशनें मिलतीं तो पैसे न मिलते, अगर मिल भी जाते तो देखते-देखते उड़ जाते। अच्छी मुसीबत में थे, कर्ज़ बढ़ता गया। परिवार का पालन-पोषण। फिर भाइयों की फीस वगैरह भी थी। जब घरबार है तो इसके साथ-साथ लाख खर्च भी होते हैं। तंगी की हद न थी।

"आपस में इन लोगों ने सलाह-मशवरा करके एक तरीका ढूँढ निकाला जो शायद ललिता के पति को पसन्द न था। लाचारी थी। उसे मानना ही पड़ा। उसने इसे मद्रास में डाक्टरी पढ़ने की अनुमति दे दी। खर्च के लिए कुछ मायकेवाले भेजते तो कुछ वह भेजता। तीन साल की तपस्या थी। कर्ज भी मिल जाता था। रूखा-सूखा खाकर गुजारा करते।

"मद्रास से डाक्टर बनकर आयी। नौकरी करना चाहती थी, पर पति

की मर्जी न थी कि उसकी पत्नी किसी के मातहत नौकरी करे। यह वह सीधी तरह कह भी न पाता था क्योंकि उन्हें अधिक आमदनी की जरूरत थी। पर अफसोस यह कि उन दिनों इन्हें नौकरी भी न मिली।

"प्रेक्टिस के लिए शुरू-शुरू में पैसे की जरूरत थी, वह भी न मिला। प्रेक्टिस भी तब ठीक तरह नहीं चल पाती थी। शहर ठहरा; दसियों और डाक्टर थे। गनीमत यह कि कर्ज बढ़ना बन्द हो गया। एक-डेढ़ साल बाद तो प्रेक्टिस भी बढ़ चली।

"पति के दो भाई पढ़-लिख गये थे। उनके बारे में ये निश्चिन्त हो गये। दो-तीन साल में इन्होंने इतना कमा लिया, पाँच हज़ार रुपये दहेज देकर बहन की शादी भी करवा दी।

"जैसे-जैसे ललिता की आमदनी और नाम बढ़ता जाता था, वैसे-वैसे इन दोनों की अनबन भी बढ़ती जाती थी। दोनों अक्सर खिझे-से रहते। ललिता शायद यह सोचती थी कि जब वह परिवार के लिए इतना कर रही है, उसके पति को उससे नाखुश रहने का कोई अधिकार नहीं है। पति कुछ और सोचता था, वह यह नहीं चाहता था कि पत्नी का पैसा किसी भी रूप में ले—पर लेना पड़ता था—इससे उसके आत्म-गौरव को धक्का पहुँचता था…"

डा० ललिता ने करवट बदली। आँखें खुलीं, जैसे वृद्धा की बात उनके कान में पड़ गयी हो। वह और गौर से सुनने लगीं।

और बुढ़िया कहती जाती थी "…ललिता ने अपने घर भी कमाई के पैसे भेजने शुरू किये। उसकी एक छोटी बहन भी इन्हीं के साथ रहने लगी। प्रेक्टिस के झंझट में दिन-रात शहर का चक्कर लगाती, और जब घर आती तो बच्चों के साथ मन-बहलाव करती। पति से ठीक तरह बातचीत न कर पाती। वह शायद सोचता होगा कि उसकी उपेक्षा हो रही थी। वह घर वक्त पर आता तो कभी न आता। तनाई-सी रहती।

"ललिता की हैसियत के सामने उसकी हैसियत कुछ भी न थी। यह उसको और भी बुरा लगा होगा। पर, क्या करता? पत्नी को छोड़ नहीं

सकता था। इसकी प्रेक्टिस इतनी बढ़ गई थी कि आमदनी में भी मुकाबला करना नामुमकिन, साथ रहना भी मुश्किल। बच-बचकर फिरने लगा। अपना तबादला भी करवा लिया।''

डा० ललिता करवटें बदलने लगीं। कभी इधर, कभी उधर। मानो उन्हें कोई भयानक दर्द हो रहा हो और वह छटपटा रही हों।

''पर जब पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया है उनको आने में क्यों एतराज है ?'' एक स्त्री ने वृद्धा से पूछा।

''एतराज ? ······आता ही होगा।'' बुढ़िया ने कहा।

''अगर एतराज हो तब भी कौन-सा गुनाह है।'' वह स्त्री कहने लगी—''शादी के बाद मिल-जुलकर रहे। प्रेम के सपने सपने ही रह गये। जिम्मे-वारियाँ आ पड़ीं। दोनों ही बेकसूर हैं। तब क्यों डा० ललिता मरीजों के सामने ढिंढोरा पीटती रहती हैं ? अगर पति से इतनी भक्ति है तो क्यों नहीं प्रेक्टिस छोड़-छाड़कर उनके पास चली जातीं ?''

''कैसे जायें ?'' बुढ़िया ने जवाब दिया, ''बच्चे बड़े हो रहे हैं। उनकी पढ़ाई-लिखाई का सवाल है। वह पचास-साठ रुपये से घर-बार चलायेगा या फीस ही देगा ?''

''शायद पढ़ाना भी नहीं चाहते होंगे। अव्वल लड़कियाँ हैं और उनसे ज्यादा भी पढ़ गई हैं। कभी सोचा होगा कि परिवार के मुखिया बनेंगे, पर समय आया कि पत्नी मुखिया हो गई और जिस परिवार में वह मुखिया नहीं वह क्यों रहें ? पत्नी चाहे दुनिया की नज़रों में कितनी ही बड़ी हो जाय, पति की दृष्टि में उसकी स्थिति पत्नी की है—यानी बराबर स्थिति नहीं। मगर डा० ललिता भी क्या कर सकती है ?''

''सबका अपना-अपना मुकद्दर है। क्या फ़ायदा सब-कुछ हो और पति की मदद न हो ?'' बुढ़िया ने सुपारी के दो-चार टुकड़े मुँह में डालते हुए कहा, ''वह भी कम तकलीफ़ में नहीं है। वह भी पत्नी को चाहता है पर ठीक वैसे ही जैसे कि ब्याही गयी थी—स्कूल फाइनल पास, डा० ललिता नहीं।''

एक युवती जो पास में बैठी इनकी बातें सुन रही थी बोल उठी, "सुना है वह बदचलन भी हैं--किसी नौकरानी को······"

"क्या वाहियात बात है ?" बुढ़िया ने आँखें दिखाते हुए जोर से कहा-"उसे बदचलन होने की फुरसत कहाँ है ? दिन-रात जुए में लगा रहता है।"

गाँव में ताश का खेल ख़त्म हो चुका था। डा० ललिता के पति के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। लगातार सिगरेट पी रहे थे। जुए में सब खो बैठे थे। कर्ज भी हो गया था।

दूध और खाने-पीने की चीजें लेकर एक नर्स बरामदे से कमरे में गई। स्त्रियों की बातचीत थमी। सब दरवाजे की ओर देखने लगीं। नर्स के अन्दर आते ही दरवाज़ा बन्द कर दिया गया।

बातें फिर शुरू हुईं—"सुना है डा० ललिता सवेरे बेहोश हो गई थीं। उनकी इन्तज़ारी कर रहीं थीं। वह नहीं आये।"

"क्या करतीं बेचारी ? शायद उनका ख्याल है कि पति उनसे इसलिए अनमने-से रहते हैं, क्योंकि उन्होंने किसी लड़के को जन्म नहीं दिया था। जब लड़का पैदा हुआ तो उन्हें दिखाने के लिए आतुर थीं।" किसी और ने जवाब दिया।

उनकी बातें ख़त्म-सी हो गयी थीं। कुछ तो इधर-उधर घूमने लगीं और कुछ वहीं बरामदे में बैठ गयीं।

चार बज चुके थे। उस गाँव की तरफ से तीन ट्रेन भी आ गयी थीं। पर वह नहीं आये। साढ़े पाँच बजे एक और ट्रेन थी। सब यही चाह रहे थे कि वह कम-से-कम उस ट्रेन से आ जायँ।

यकायक दरवाज़ा खुला और नर्स ने स्त्रियों के झुण्ड को अन्दर जाने की अनुमति दे दी।

डा० ललिता को घेरे स्त्रियाँ खड़ी थीं। उनकी अलसायी हुई आँखें स्थिर-सी थीं। चेहरा निष्प्राण-सा लगता था। बच्चा उनके पास पड़ा सो रहा था। उनकी नजरें दरवाजे पर थीं। वह शायद 'वह नहीं आये ?' पूछ-पूछकर थक गयी थीं। चुप लेटी हुई थीं।

वह बुढ़िया पलंग के नजदीक स्टूल लेकर बैठ गयी। धीरे-धीरे सब चले गये। कमरे में नर्स और उस वृद्धा के अतिरिक्त अन्य कोई बाहर का व्यक्ति न था।

* * *

दरवाज़ा खुला हुआ था। घड़ी में छः बज रहे थे। डा० ललिता के चेहरे पर निराशा जम-सी गयी थी। वह चुपचाप बिस्तरे पर पड़ी हुई थीं।

थोड़ी देर बाद दरवाज़े से एक कद्दावर व्यक्ति—पैंतालीस के लगभग उम्र—नंगा सिर, आँखों पर चश्मा, एकहरा बदन, गोरा रंग—ऐसा घुसा जैसे खुद मरीज हो और बिस्तर की तलाश में हो। यह डा० ललिता के पति थे।

बुढ़िया उन्हें देख मुसकरायी। डा० ललिता की आँखें उन पर एक बार पड़ीं और फिर आँसुओं से मिच-सी गयीं। करवट बदल बच्चे को अपने और नजदीक खींचने लगीं, उसके मुख पर हाथ फेरने लगीं। उस अधेड़ महिला के मुँह पर भी यौवन-सुलभ शरम आ गयी थी।

पति बिना कुछ बोले, पलंग के पास आये और बुढ़िया के दिये हुए स्टूल पर स्तब्ध-से बैठ गये। आँखें बच्चे को निहार रही थीं। उनकी एकाग्रता में विचित्रता भी थी। उनकी हालत उस व्यक्ति की-सी थी जो घुड़दौड़ में सब-कुछ खो बैठा हो और घर आते ही लॉटरी के जीतने की खबर मिली हो।

"मालूम है लड़का है कि लड़की ?" वृद्धा ने पूछा। वह वैसे के वैसे ही चुप बैठे रहे, जैसे कहने में शर्माते हों, हिचकिचाते हों।

बुढ़िया ने लड़के को उठाकर उनकी गोद में रख दिया। उनकी पत्नी के चेहरे पर मुसकराहट दौड़ गयी। उनका मुँह भी खुशी से चमका—पैंतालीस की उम्र में पुत्र-जन्म—जीवन की निराशाभरी लुढ़कन में आशा-प्रदीप। पति-पत्नी की आँखें मिलीं। पत्नी पति की ओर देखती रहीं और पति पुत्र की ओर।

"सवेरे से कहाँ थे ? यह बेचारी तो तुम्हारी इन्तज़ारी करते-करते

बेहोश हो गयी। क्यों, किसी ने बताया नहीं था ?" बुढ़िया ने उनसे पूछा।

"तार मिला था——तब काम था, नहीं आ सका।"

बुढ़िया हँसी, जैसे उनके जवाब में उसको यकीन न हो।

"तार किसने दिया था ?" डा० ललिता ने गुस्से में नर्स से पूछा— "कंजूसी यहीं दिखानी थी ?"

"अस्पताल के क्लर्क ने। यह तो लिखता कि लड़का पैदा हुआ है कि लड़की। कितनी बार कहा..." नर्स कहती जाती थी और डा० ललिता उसकी तरफ घूर-घूरकर देख रही थीं।

"खैर, कोई बात नहीं।" पति ने पत्नी की तरफ देखकर मुसकराते हुए कहा। उन्हें धीमे-धीमे खुशी का नशा चढ़ रहा था। पत्नी भी मुसकरायीं। नर्स कमरे के बाहर चली गयी। बुढ़िया भी जाने को थी। डा० ललिता के पति ने उन्हें रोका। उनकी कुछ ऐसी अवस्था थी कि वह तीसरे का सहारा चाहते थे। दोनों की आँखों से खुशी के आँसू टपक रहे थे।

"अपने पिता जी का नाम रखना।" बुढ़िया का कहना था कि दोनों सिसक-सिसककर रोने लगे। एक दूसरे की तरफ देखते और घुटकियाँ भरते।

डा० ललिता ने अपने पति से कहा, "मैं आपके साथ चलूँगी गाँव।"

"और प्रेक्टिस ?" पति ने पूछा।

डा० ललिता बिना जवाब दिये हतप्रभ-सी कभी बच्चे की ओर देखतीं तो कभी पति की ओर।

उनके पति, जैसे कुछ याद आ गया हो, झट कमरे के बाहर चले गये। रात होने से पहले अस्पताल के पिछवाड़े में नगाड़े बज रहे थे, मिठाइयाँ बाँटी जा रही थीं।

१३

विमोचन

शकुन्तला अपनी किताबें सँभाल सीढ़ियों पर उतरने को ही थी कि नानी ने बाँह पकड़कर धीमे-से कहा, "स्कूल के अहाते में रहना, बाहर न घूमना-फिरना, समझी !" और साड़ी का छोर मुख में रख सिसकने लगी।

"क्यों ?" शकुन्तला ने पूछा—"मैं कब बाहर जाती हूँ ?"

"यूँ ही. सँभल के।"

"फिर भी बात क्या है ?"

"जिद न पकड़, वक्त हो गया है, जा।"

शकुन्तला का चेहरा उत्सुकता और आश्चर्य में कुछ सिमटा। वह धीमे-धीमे सोचती-सोचती एक-एक सीढ़ी पर उतरने लगी। रोज शकुन्तला खा-पीकर बीस सीढ़ियाँ चार-पाँच छलाँग में फाँद जाती थी। आज नानी ने बात क्या कही कि उसके पैरों में चक्की-सी बँध गयी। वह एक कदम आगे जाती और पीछे मुड़कर नानी को देखती। नानी की आँखें छलछला रही थीं। वह काँप रही थी।

शकुन्तला का घर एक तंग गली में था—छत के ऊपर बनी छोटी-सी झोंपड़ी में। न पानी का इन्तजाम, न रोशनी की ही सहूलियत। बरसात में अक्सर छप्पर छलनी हो जाता था। हवा-धूप को भी खुली छूट थी। किराया छः रुपये था।

उस घर में तीन प्राणी रहते थे—शकुन्तला, उसकी नानी और उसका मामा। घर में मामा ही कमाऊ था। पासवाले कपड़े की मिल में मजदूर था, कुल मिलाकर पचास-साठ रुपये माहवार बना लेता था। मिल पास ही थी।

अड़ोसी-पड़ोसी भी मिल में काम करते थे। मामा की उम्र पैंतीस-चालीस की होगी। उसकी शादी हुई थी, बच्चे भी हुए थे। बच्चे दो-चार साल जीते और मर जाते। बाद में न जाने क्या झगड़ा हुआ कि उसने अपनी पत्नी को अलग कर दिया। वह अब मोहल्ले में किसी मजदूर के साथ रहती है।

नानी की उम्र साठ के करीब होगी—झुककर कमान हो गयी थी। बाल भी काँस के फूल-से थे। दुबली-पतली। भगवान् ने उम्र दी थी, पर दिक्कतें भी इतनी दीं कि वह जिन्दगी से ऊब गयी थी। जब से उसके पति गुजरे, उसे लगता था कि मौत भी उससे रूठ गयी थी। अकेली बैठी-बैठी आँसू बहाती, गुजरी हुई बातों को सोच-सोचकर दिल को तेजाब में तलती। मौत नहीं आती थी इसलिए जिन्दा थी।

शकुन्तला चौदह-पन्द्रह वर्ष की है। खुशदिल, चुस्त, चालाक—कली-सी जो पत्तों की ओट में ओस-पाले से बचती आयी हो। उसे बदसूरत नहीं कहा जा सकता था। समझदार थी—छुई-मुई-सी, कभी खुशी में खिलती तो कभी गमी में मुरझा भी जाती।

जब वह छोटी थी तो उसने अपने पिता के बारे में पूछा था, नानी ने हिचकियाँ भरते-भरते कहा था कि वह गुजर गये हैं। वह नानी को अब भी माँ कहकर पुकारती है, उसे अड़ोस-पड़ोसवालों से पता लगा था कि उसकी नानी वस्तुतः उसकी माँ नहीं है। वह नजदीकवाले कॉरपोरेशन स्कूल में पढ़ती है, थर्ड फार्म में। स्कूल में उसके मामा का नाम ही संरक्षक के रूप में दर्ज है।

मामा और नानी ने शकुन्तला से बहुत दिनों तक असलियत छुपाने की कोशिश की। जब मामा ने मामी को मार-पीटकर गली में धकेल दिया तो नानी सिर पीट-पीटकर रोने लगी। वह चिल्लाती जाती थी—"हे भगवान्! मुझे भी ले चलो, यह सब देखने के लिए ही मुझे आयु दी थी? लड़की की वह हालत और लड़के पर यह नौबत···भगवान् दया करो!" नानी घण्टों रोती रही। मामा गुस्से में पागल था। शकुन्तला की कुछ समझ में नहीं आ रहा था, नानी को रोते देख वह भी कोने में बैठ सिसकने लगी। उस दिन न खाना बना, न किसी ने खाना खाया।

अगले दिन तड़के ही मामा काम पर चला गया। शकुन्तला ने स्कूल न जाने की हठ की। खाना भी छूने से इन्कार कर दिया। नानी ने बहुत मनाया, पर शकुन्तला अड़ी रही। वह सुनना चाहती थी कि उसकी माँ की क्या हालत थी। वह रात-भर कुछ-न-कुछ ऊटपटांग सोचती रही। बेचैन थी। नानी ने पहले बताने में आनाकानी की, पर बाद में विवश हो उसे बताना पड़ा, मगर उतना ही जितना कि शकुन्तला को औरों से मालूम हो जाता।

तभी शकुन्तला को पता लगा कि उसके पिता ने उसकी माँ की हत्या कर दी थी और वह काले पानी भेज दिया गया था। यह जाने उसको पाँच-छः साल हो गये हैं। तभी से वह कुछ मूडी-सी हो गई है। साथ की लड़कियों से अलग-अलग फिरती है। दो-चार सहेलियों के अलावा जिनसे उसकी घनिष्ट मैत्री है, वह स्कूल में किसी से बातचीत भी नहीं करती। यह उसकी आदत-सी हो गयी है।

वह हमेशा अपने माँ-बाप के बारे में सोचती रहती हो, ऐसी बात भी नहीं। पर कभी-कभी जब और बच्चों के माँ-बाप उन्हें दुलार से कुछ देते थे, या कोई अपने माँ-बाप के बारे में बढ़-चढ़कर बातें करता, तो उसके मन को ठेस लगती। सोचती होगी कि अगर उसके माँ-बाप होते तो वह भी फूल-फूलकर बातें करती। फिर भूल जाती। नानी और मामा को ही माँ-बाप समझने लगी थी। मामा और नानी भी उसको अपनी सन्तान की तरह देखते।

मामा की आयु थोड़ी थी। पर शकुन्तला को देखकर यह कोई न कह सकता था कि वह गरीब लड़की है। अच्छे कपड़े पहनती। जेब-खर्च के लिए दो-चार आने-पैसे भी ले लेती थी। उसकी हर जरूरत को वे पूरा करने की कोशिश करते। इकलौती लड़की की तरह उसकी परवाह की जाती। दो-चार रुपये बचते तो उसके नाम पोस्ट आफिस में जमा भी कर दिये जाते।

उसका मामा न औरों की तरह पियक्कड़ था, न झगड़ालू ही। उसे अपने काम से मतलब, काम खतम होते ही घर आ जाता था। बुरी सोह-बत से बचता था। बिरादरी में उसकी अच्छी हैसियत थी। पिछले दो-तीन सालों से तो पूजा-पाठ भी करने लगा था। तिरुपति का चक्कर भी लगा

आया था। उसकी सारी आशाएँ शकुन्तला पर ही थीं।

नानी थोड़ी देर तक छत की मेंढ़ से शकुन्तला को एकटक देखता रही, जब वह गली में मुड़कर ओझल हो गयी, वह आँसू पोंछती-पोंछती अन्दर आ गई और दरवाजा बन्द कर अपनी चारपाई पर लेट गयी।

* * *

शकुन्तला स्कूल में खिन्न-सी बैठी हुई थी। उसे न पढ़ने में दिलचस्पी थी, न किसी से बातचीत करने की ही मर्जी थी। वह कुछ डरी हुई थी। उसके मन में तरह-तरह की बातें खौल रही थीं। भोजन का समय हुआ, और लड़कियाँ अहाते में खेलने लगीं। वह कमरे में बैठ अपने से बार-बार पूछ रही थी—"नानी ने मुझे बाहर जाने से क्यों बन्द किया? क्या नानी को मालूम है कि मैं गणेशन् से गली में मिलती-जुलती हूँ?

"कैसे मालूम हुआ? मालूम है क्या?

"परसों ही गणेशन् के पिता मामा से शादी के बारे में बातचीत करने आये थे, नानी भी थीं वहाँ। मामा की और गणेशन् के पिता की तो गहरी छनती है। बचपन के दोस्त हैं। दूर की रिश्तेदारी भी है। एक ही मिल में काम करते हैं। गणेशन् स्कूल फाइनल भी तो पढ़ रहा है? हमारी जात में पढ़े-लिखे भी कितने हैं? उस कुमारन् से तो वह सैकड़ों गुना अच्छा। नानी शायद उसे चाहती थी। उसको मेरी और गणेशन् की शादी पसन्द नहीं! तभी तो मेंढ़ के पास अकेली जाकर बैठ गयी थी। इसीलिए मेरा बाहर आना-जाना बन्द कर दिया गया है?" शकुन्तला के छोटे-से मन में इस तरह का तूफान आ रहा था। बहुत-से प्रश्न उठते पर कोई निश्चित जवाब न मिलता। वह झटके-से उठी और फाटक की ओर चल दी।

वह नानी की सलाह की परवाह न करना चाहती थी। आखिर नानी का उसकी बातों में दखल देने का क्या अधिकार? अगर वह गणेशन् से मिलती है तो क्या बुरा करती है? वह गली में जा खड़ी हुई। उसे आज देर हो गयी थी। गणेशन् निश्चित जगह पर न था। वह थोड़ी देर खड़ी रही, फिर भीगी बिल्ली की तरह वापस चली गयी, चारों ओर देखते हुए, कहीं

ऐसा न हो, किसी ने उसे देख लिया हो।

अंग्रेजी का पाठ चल रहा था और शकुन्तला के मन में ज्वार चढ़ रहा था।

"अगर नानी को मना करना था तो कारण भी बताना था। बिना कारण के भी वह मुझे क्यों बाहर जाने को मना करेगी ? दाल में जरूर काला है। बात क्या है ? बातचीत तो परसों ही हो गयी थी। तय भी हो गया था। तब गणेशन् से मिलने में हर्ज ही क्या है ? अगर पसन्द न था तो पहले ही मना करना था, आज ही कहने की क्या जरूरत थी ? नानी को क्या मैं गणेशन् को जानती हूँ ? हम तो एक दूसरे से बातचीत भी नहीं करते हैं। मालूम हो गया है कि देखकर ही तसल्ली कर लेते हैं।

"जब गणेशन् के पिता बातचीत करने आये, उन्होंने भी यह नहीं बताया कि मेरी और गणेशन् की जान-पहचान है। फिर नानी को मालूम कैसे हुआ ?

"मोहल्लेवाला भी कोई नहीं जानता। सिर्फ पद्मा को मालूम है, वही हम दोनों की चिट्ठी-पत्री पहुँचाती रहती है। कहीं उसने तो पोल नहीं खोल दी ? पर पद्मा तो गणेशन् से ऐसी डरती है कि नाम लेते भी घबराती है। गणेशन् को मालूम हो गया तो उसकी हड्डी-पसली तोड़कर रख देगा। फिर बात क्या है ?

"अगर नापसन्द थी तो साफ कह देतीं, रोने की क्या जरूरत थी ?

"नानी और मामा, माँ-बाप थोड़े ही हो सकते हैं ? कब तक मेरी परवरिश करेंगे ? पढ़ाई-लिखाई से भी क्या फायदा ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। मामा चाहे कितने गये-गुजरे हों, पर उस जल्लाद बाप से तो अच्छे हैं जिसने माँ को अपने हाथों मार दिया। वह भी कोई बाप है ? होना न होना बराबर। माफ करो भगवान्, गलती हुई। मुझे मामा और नानी के बारे में ऐसा नहीं सोचना चाहिए था। फिर बात क्या है ? नानी ने मुझसे क्यों कहा ? यह पद्मा की ही करतूत हो सकती है।"

अंतर खतम हुआ। शकुन्तला ने पद्मा को बाहर आने का इशारा किया।

दोनों खम्भे के सहारे, गुप-चुप कानाफूसी करने लगी।

"आज क्यों नहीं गयी? मुँह क्यों सुजाये हुए हो?" पद्मा ने पूछा।

"वह आया था क्या?"

"हाँ, काफी देर तक इन्तजार करता रहा, और तुम न जाने कहाँ गायब रहीं?"

"मैं तो यहीं बैठी थी......"

"वह नाराज होकर चला गया।"

"नाराज होकर चला गया? खैर, तू मेरी तरफ से अपने भैया को मना लेना।"

"नाराज तुमसे हो, और मनाऊँ मैं? खूब!"

"जाने दे, अब यह बता तूने नानी से तो कुछ नहीं कहा हमारे बारे में?"

"नहीं तो, तुझे शक कैसे हुआ?"

"सच बता।"

"नहीं तो, तुम्हारी कसम।"

"सच?"

"सच।"

शकुन्तला पूरे दिन-भर यही सोचती रही, पर यह नहीं पता कर सकी कि नानी ने उसे बाहर जाने के लिए क्यों मना किया था।

* * * *

बुढ़िया कभी सोने की कोशिश करती तो कभी उठकर बैठ जाती। परेशान थी। फिक्र से दबी जाती थी।

वह बारह साल से एक-एक दिन गिन-गिनकर काट रही थी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे उसका डर भी बढ़ता जाता था। उसे मालूम था कि जिनको बीस साल की सजा मिलती है वे अक्सर बारह-तेरह वर्ष में ही छूट जाते हैं। उसको किसी ने यह भी इत्तिला दी थी कि उसका दामाद जेल से छूटनेवाला है। जब से उसे यह मालूम हुआ है उसने दो कौर भी चैन से नहीं निगले हैं।

वह चारपाई पर पड़ी-पड़ी सोच रही थी--"क्या वह दिन अभी आना था ? दो-तीन वर्ष बाद क्यों नहीं वह छोड़ा गया ? लड़की सयानी हो गयी है, शादी हो जाती तो अच्छा था। बातचीत भी तय हो गयी है। पर वह शादी नहीं होने देगा। वह आदमी नहीं, राक्षस है। न छूटे तो भला।"

उसका दामाद रामस्वामी भी उसके लड़के की तरह मिल में मजदूर था। शायद ऐसा कोई ऐब न था जिसकी उसे आदत न थी। शराब की तो बुरी लत थी। इलाके का पहुँचा हुआ गुण्डा समझा जाता था। दंगे-फसाद होते तो वह अगुवा होता। दो-तीन बार हवालात की भी हवा खा आया था।

बुढ़िया की और उसकी न बनती थी। बुढ़िया नहीं चाहती थी कि उसकी लड़की उससे शादी करे, लड़के की भी यही राय थी। लड़की की अपनी ही जिद थी। फिर पैसे के बारे में अक्सर तनातनी रहती। बुढ़िया के पास था ही क्या जो देती, जो कुछ था वह पहले ही दे चुकी थी। उसकी तनख्वाह उसके शराब के लिए भी काफी न थी। घर के गहने, बर्तन बेचकर अक्सर गुजारा होता। कभी काम पर जाता तो कभी नागा कर देता। घर में फाके होते। उसने सबकी नाक में दम कर रखा था।

दो-तीन साल तक तो वह ठीक रहा। तभी शकुन्तला पैदा हुई थी। बाद में अपना उत्पात मचाने लगा। बुरी आदतें तो थीं ही, घर में भी रात-दिन सताने लगा। शकुन्तला की माँ हमेशा अपने भाग्य पर रोती। माँ से दिल खोलकर कह भी न पाती थी--माँ की इच्छा के बिना जो उसने शादी की थी। कहती तब भी क्या फायदा था ? मन मसोसकर रह जाती।

बुढ़िया का लड़का बहन के घर आता-जाता भी न था। मिल में भी, उन दोनों में तीन और छः का रिश्ता था। जब दामाद की अपनी पत्नी से ही नहीं बनती थी तो भला पत्नी के घरवालों से कैसे बनती ? हर वक्त खौफ़ खाये बैठा रहता।

बुढ़िया आँख फाड़े छप्पर की ओर देख रही थी। चेहरे की झुर्रियाँ मोटी पड़ गयी थीं। वह तिलमिला-सी रही थी। उसके सामने पन्द्रह बरस पहले का नजारा था। उसी दिन उसके दामाद को नौकरी से बर्खास्त कर

दिया गया था।

खूँखार, पागल-सा, नशे में चूर, रात को जब वह लड़खड़ाता हुआ आया तब त्यागराजन् घर से बाहर जा रहा था। आते ही उसने पत्नी का गला धर दबोचा। कह रहा था, "तेरी यह हिम्मत, सच बता, उस कमीने के पास......" उसकी पत्नी दर्द से चीख रही थी। ज्यों ही उसके पास बुढ़िया पहुँची, उसने छुरी निकालकर अपनी स्त्री का काम तमाम कर दिया। लपकती हुई बुढ़िया को उसने ज़ोर से धकेल दिया, दरवाजे से टकराकर उसके सिर पर चोट लगी। वह रोती-चीखती बाहर भागी। फिर सोयी हुई लड़की पर—शकुन्तला पर, छुरी मारी जो सिर को चीरती हुई निकल गयी।

वह चिल्ला रहा था, "हो सत्यानाश इसके घर का, बेईमान, कुलटा, धोखा देती है!" खून में लथपथ अपनी पत्नी को देख, फिर न जाने उसे क्या सूझा कि छुरी निकाली और अपने गले में भोंक ली। वह बेहोश गिर गया।

यह नजारा जब-जब बुढ़िया की आँखों के सामने आता तो उसके कलेजे पर साँप लोट जाता।

शकुन्तला की दवा-दारू हुई, वह अच्छी हो गयी। दामाद का भी इलाज किया गया, बदकिस्मती समझो या खुशकिस्मती, वह ठीक भी हो गया, गला पूरी तरह न कटा था। साँस की नाली अलबत्ता कट गयी थी, डाक्टरों ने नकली टीन की नाली रख साँस लेने की सुविधा बनाकर उसकी जान बचा दी। बुढ़िया सोचती, "तभी मर जाता तो बला टलती।"

अदालत में मुकद्दमा हुआ। महीनों मुकद्दमा चलता रहा। दामाद के वकील ने यह साबित करने की कोशिश की कि जिस हालत में मुद्दई ने पत्नी की हत्या की, उस हालत में कोई अन्य व्यक्ति भी वही काम कर सकता था जो उसने किया। उसको ज़िन्दगी से ग्लानि पैदा हो गई थी और जिनकी वजह से ग्लानि पैदा हुई थी, उनको पहले खतम करना चाहा, फिर उसने अपने को समाप्त करने का प्रयत्न किया। बार-बार यह ज़ोर देकर कहा गया कि

जब तक काफी सबूत न हो तो कोई पागल भी—भले ही वह पियक्कड़ हो, बदमाश हो, गुण्डा हो, अपनी पत्नी और पुत्री की हत्या करने का दुस्साहस न करेगा।

पैरवी में यह भी बताया गया कि शकुन्तला की माँ बुरी चरित्र की थी। वह तो मर चुकी थी, कुलटा थी कि नहीं, वह नहीं कह सकती थी और जो कह सकता था वह······त्यागराजन, इस घटना के कुछ घण्टों के बाद ही आत्महत्या कर चुका था।

यह बात जरूर थी और बुढ़िया भी बखूबी जानती थी कि त्यागराजन अक्सर उनके घर आया करता था। उनकी बचपन की दोस्ती थी। बड़ा होते ही वह जमशेदपुर में काम करने चला गया था और जब वापस आया तो शकुन्तला की माँ की शादी हो चुकी थी। पुराना परिचय फिर हुआ और जो होना था सो हो गया।

बुढ़िया चारपाई से उठी और फर्श बुहारने लगी। उसके लड़के के आने का वक्त हो गया था। आधा फर्श साफ किया, झाड़ू नीचे रख, सिर पर दोनों हाथ रखकर, कराह-सी उठी—"अब क्या होगा ?" सिर हिलाया और फिर कह बैठी, "क्या होगा भगवान ? मुझे ही देखने थे ये दिन ?" वह साफ करती जाती और सोचती जाती, "क्या हमें फिर मारने की कोशिश करेगा ? मेरी ज़िन्दगी तो खैर खतम हुई, शकुन्तला को भी मारेगा ? उसकी क्या हालत होगी ? ये गुण्डे-बदमाश अपनी बात के पक्के होते हैं—जो धुन सवार हुई, बुरी हो या अच्छी, करके छोड़ते हैं। उसकी लड़के से भी तो नहीं बनती। इतने दिनों की कैद से क्या वह सुधर गया होगा ? आखिर हमने किया क्या है जो वह हमें मारना चाहता है ? खोटी किस्मत।"

मुँह पोंछती हुई, कूड़ा-कर्कट लेकर वह बाहर फेंकने गयी। मिल की चिमनी से धुआँ निकल रहा था—सीटी बज चुकी थी। गलियों में फिर कुछ चहल-पहल शुरू हो गयी थी। वह थोड़ी देर तक मिल की तरफ देखती रही, फिर अन्दर आ, दरवाजा खोलकर, लड़के का इन्तजार करने

लगी।

बुढ़िया सोच रही थी, "लड़की को ऐसा पति मिला कि उसी के हाथ उसे मौत देखनी पड़ी और लड़के को ऐसी पत्नी मिली जो सारे कुटुम्ब को बदनाम करती गयी···" कि इतने में उसका लड़का सीढ़ियों पर आता हुआ नजर आया। उसे कुछ ढाढ़स-सा हुआ।

खाना खाकर, जब उसका लड़का अपनी चटाई पर बैठ पान चबा रहा था तो बुढ़िया ने धीमे से पूछा, "मालूम है शकुन्तला का बाप रिहा होने-वाला है?"

"हूँ, सुनते हैं, छोड़ भी दिया गया है। उसने अपने लंगोटिया यार नटेशन को लिखा है, कल-परसों मद्रास भी पहुँच जाएगा।"

"कौन नटेशन?"

"वही जो पारसाल मिल के अहाते में दंगा-फसाद करने के कारण एक साल के लिए जेल भेज दिया गया था। वहीं ये दोनों फिर मिले।"

"वह कुछ बदला कि नहीं?"

"कहीं कुत्ते की दुम भी सीधी होती है?"

"वैसा का वैसा ही खूँखार है क्या?"

"नटेशन, सुना है, किसी से कह रहा था कि वह आते ही जिस-जिस ने अदालत में उसके बखिलाफ गवाही दी है उन सबका खातमा करके ही दम लेगा—भले ही वह उसकी सास हो, साला हो, और तो और लड़की ही हो।"

"क्यों?"

"उसका कहना है कि जिस पत्नी ने उसको धोखा दिया, उसके घर-वालों का भी सत्यानाश करके रहेगा। सत्यानाश? देखें कितना दम है? देखा जायेगा, कोई फिक्र की बात नहीं।"

"पर वह तो खुद ही मरना चाहता था, हमने गवाही दे दी तो क्या गुनाह किया?"

"मर जाता तो बला टलती। खुद कौन-सा दूध का धुला है? अव्वल दर्जे का लफंगा और बातें ऐसी करता है जैसे सारी अच्छाई का ठेका उसी ने

ले रखा हो। देख लेगा कि यहाँ भी अपनी माँ के लाल बैठे हैं। आने दो।"

"जल्दी मत करो, नटेशन ने क्या तुमसे खुद बातचीत की थी? वह तो परले दरजे का चुगलखोर है।"

"नहीं तो, हम दोनों में बातचीत नहीं है। जब से मिल में झगड़ा हुआ है वह मुझसे बुरी तरह चिढ़ा हुआ है, उसको शक है कि मैंने उसको पकड़वाया था।"

"देखो तुम जल्दबाजी मत करना। न जाने वह गलत कहता है कि सही। आदमी बदलते हैं। आखिर उसको हमें मारने से क्या मिलेगा? पिछली बार काला पानी मिला, इस बार फाँसी मिलेगी।"

"इतनी अक्ल होती तो बहन का कत्ल कभी न करता। मैं उसकी हड्डी-हड्डी पहचानता हूँ। वह बदलनेवाला शख्स नहीं है। आ जाय, हो जायेगा इस बार फैसला। हम यहाँ कोई चूड़ियाँ पहने नहीं बैठे हैं।"

"संभल के बेटा, संभल के!" कहती-कहती वह थाली धोने लगी, और उसका बेटा पान चबाकर चारपाई पर आराम से लेट गया।

बुढ़िया अपना काम खतम करके बेटे की बगल में आकर बैठ गयी और पूछने लगी—"क्यों बेटा, शकुन्तला की शादी के बारे में सब-कुछ तय हो गया है?"

"हाँ लगभग सब कुछ। क्यों तुम्हें कोई एतराज है?"

"क्या बेटा, तुम भूल गये कि वह गणेशन् त्यागराजन् के भाई का लड़का है?"

"है, तो क्या हुआ?"

"वह छूट रहा है, कभी शादी नहीं होने देगा—मैं डरती हूँ कहीं खून-खराबी न हो जाय। सोचकर काम करो, आदमी खतरनाक है, वह उस घर से रिश्तेदारी हर्गिज नहीं करना चाहेगा, चाहे वह कितना भी बदले या न बदले, उसकी उनसे नहीं बनेगी।"

"उसकी बनती किससे है बिरादरी में? गणेशन् अच्छा पढ़ा-लिखा है; उस जैसा शरीफ लड़का मिलना मुश्किल है और जब वह बिना खोजे

मिल रहा है तो मौका खो बैठना अच्छा नहीं। तुम तो यूँ ही डरती रहती हो, आकर क्या कर लेगा वह ?"

"शादी का मामला है। चाहे कितनी ही हम परवरिश करें, प्यार करें, लड़की तो उसी की है, उससे भी पूछ लेते तो अच्छा होता ?"

"लड़की उसकी है ? तभी उसने इस पर छुरी चलायी थी ? उस जैसे के लिए बाप होना भी लानत है। हटाओ यह बात, शकुन्तला को याद भी नहीं होगा कि उसके बाप की शक्ल कैसी थी। पूछने को तुम कहती हो पर उसने कभी चिट्ठी लिखी कि उसकी लड़की जिन्दा है कि मर गयी है ? जब वह नटेशन को चिट्ठी लिख सकता है तो क्या बेटी को चिट्ठी नहीं लिख सकता ? तुम तो यूँ ही खामख्वाँ डरती हो– खैर, लड़की की खैरियत इसी में है कि उसकी गणेशन् से शादी हो। अगर उसको अपनी लड़की की खैरियत का ख्याल है तो गुजरी हुई बातों को भूल जाना चाहिए।"

"तुम कुछ भी कहो, बेटा, मुझे तो डर लग रहा है––सब्र करो···"

"इसमें सब्र की क्या बात है ? अपनी शकुन्तला भी तो सयानी हो गयी है, अक्लमन्द है, स्कूल में पढ़ती है। अगर उसकी मर्जी है तो करेगी, नहीं तो जो किस्मत में लिखा है सो होगा ही। आज मैं कह दूँगा। अब तो वक्त हो गया है, साढ़े चार बज रहे होंगे, आती ही होगी।"

"कुछ भी करो, बेटा, मुझे तो डर लग रहा है।" वह उठकर, तम्बाखू चबाती-चबाती दरवाज़े के पास जा बैठ गयी। शकुन्तला की प्रतीक्षा करने लगी। उसके लड़के की नज़र भी दरवाजे पर थी। दोनों चुप बैठे थे।

जब शकुन्तला आयी तो रोज़ की तरह नानी को पुकारा नहीं। धीरे-धीरे सीढ़ियों पर से आयी और झटके से दरवाजा खोल दिया। दरवाज़ा खुलते ही बुढ़िया चौंकी, "ओह बेटी, तू है ?"

शकुन्तला मुसकरायी, कहा––"हाँ, माँ, आज मैं कहीं बाहर नहीं गयी, अहाते के अन्दर ही रही, चाहो तो पद्मा से पूछ लो, यकीन करो।"

"मुझे यकीन है, पद्मा से पूछने की क्या जरूरत है ?'

"मगर माँ, क्यों···?"

इतने में शकुन्तला के मामा ने पूछा, "पद्मा कौन ? वही न गणेशन् की बहन ?"

"हाँ मामा।"

"बेटी, जरा इधर तो आओ, परसों तुमने हमारी बातचीत सुनी थी न गणेशन् के पिता से ? शर्माना मत। तुम्हारी जिससे मर्जी हो उससे शादी करो, बेटी। हमें कोई एतराज नहीं, जो तुम्हारी खुशी वही हमारी खुशी। कुछ छुपाना मत, जो मन में हो, कह दो—यह बताओ तुम्हें गणेशन् पसन्द है कि नहीं ?"

शकुन्तला शरमाने लगी।

"बताओ भी, शरमाने की कोई जरूरत नहीं," मामा ने पूछा, "बताओ भी, शरमाओ मत।"

"आपको पसन्द हैं तो मुझे भी पसन्द हैं, जैसी आपकी मर्जी वैसी मेरी मर्जी।"

"हमें तो गणेशन् पसन्द है..."

यह सुन पुस्तकों का थैला ताक में रख, शकुन्तला खुशी में शरमाने लगी। मामा कहने लगे—"शायद गणेशन् तुम्हारे बाप को न जँचे, शायद क्या ? जब बात पक्की हो गयी है तुमसे क्या छुपाना ? उसे गणेशन् हर्गिज पसन्द नहीं आयेगा।"

"पर वह तो जेल में बन्द हैं।"

"जल्दी ही रिहा हो जायेगा—खैर, तू फिक्र न कर बेटी, सब ठीक हो जायेगा।"

शकुन्तला को अचरज हुआ। वह अनमनी-सी नानी के नजदीक जा अपने बाल संवरवाने लगी। नानी सिसकती जाती थी और लड़की के बालों में कंघी फेरती जाती थी।

"माँ, बाहर जाने से मुझे क्यों तूने मना किया था ?"

नानी चुप रही—इस उलझन में कि कहा जाय या न कहा जाय।

"बताओ भी, माँ..."

नानी माथे पर का निशान देख हिचकियाँ भर-भरकर रोने लगी—निशान उसी चोट का था जो उसके बाप ने लगायी थी, जब वह दो बरस की थी।

"बताओ भी, रोती काहे को हो माँ ?"

"सुनोगी ही ? सुना है तुम्हारे पिता रिहा कर दिये गये हैं, मुझे डर था कि कहीं तुम अहाते से बाहर निकलो और वह तुम पर हमला करे, नहीं……"

"हमला ? क्यों ?"

"हाँ, नहीं, नहीं…" बुढ़िया संभलने लगी जैसे गलती से कुछ कह बैठी हो।

"क्यों नहीं, जब वह माँ को मार सका तो बेटी को भी मार सकता है…" शकुन्तला ने नानी को चुप पा, अपने प्रश्न का अपने आप ही उत्तर दे दिया।

उस दिन शकुन्तला सहेलियों से मिलने नहीं गयी और बिना खाये ही सो गयी।

* * *

खाना खाकर जब शकुन्तला उठी और अपनी किताबें सम्भालने लगी तो नानी ने कहा, "ख्याल रखना, बेटी, अहाते के अन्दर ही रहना, अकेली मत घूमना-फिरना।"

किताबें पटककर शकुन्तला ने कहा—"आज मैं स्कूल नहीं जाऊँगी, यहीं रहूँगी। मुझे डर लग रहा है।"

"जाओ बेटी, यहाँ और खतरा है। हम दो ही तो हैं यहाँ। स्कूल में तो सैकड़ों लड़कियाँ होंगी और पढ़ानेवाली होंगी, डर किस बात का ? तेरे मामा से मैंने कह दिया है कि हेड-मिस्ट्रस के घर सब-कुछ कहता जाय। वह किसी को अहाते में न घुसने देंगी। डरो मत, जाओ।"

जिद कर-कराकर शकुन्तला स्कूल चली गयी। बुढ़िया ने दरवाजे की चटखनी अन्दर से बन्द कर ली और खिड़की में से शकुन्तला को आँखों से

ओझल होने तक देखती रही।

शकुन्तला का मामा देवराजन काम पर चला गया था। बुढ़िया घर में अकेली थी। डर के कारण उसका शायद खून भी सूख गया था। वह थोड़ी देर तक वहाँ काँपती-काँपती बैठी रही। फिर निचले मकान में जाकर दूसरे किरायेदारों से बातचीत करने लगी।

वेल्लूर से गाड़ी आ चुकी थी। उसका दामाद वेल्लूर जेल में था। बुढ़िया ने वक्त पूछा, दरवाजा खोलकर गली में दूर-दूर तक देखा, किसी को न पा गहरी साँस ली। कुछ देर तक तो वह यह सोचती खड़ी रही कि वह भी क्यों न शकुन्तला के स्कूल चली जाय। पर कुछ निश्चय कर अन्दर के कमरे में बैठ गयी, मकानवालों के यहाँ आना-जाना उसका कम ही होता था। इसलिए कोई बातचीत भी नहीं हो रही थी, चुपचाप बैठी हुई थी।

कुछ देर बाद सुनती क्या है कि दरवाजे के पास कोई कह रहा है––"माँ! माँ है क्या?" बुढ़िया सहमी, उसके सामने वही नजारा आया––चाकू, खून, कत्ल जल्लाद-सा दामाद। उसने आवाज पहचान ली थी। वह इधर-उधर देखने लगी। फिर आवाज आयी––"माँ! माँ कहाँ है?" आवाज में नमी थी, बिचारापन। बुढ़िया ने सोचा––क्या यह बदल गया है, उसने तो कभी पहले माँ कहकर पुकारा नहीं था। कहीं यह चाल तो नहीं, वह क्या बदल सकता है? कुत्ते की दुम क्या कभी सीधी होती है? क्या वह कुत्ता है?

"क्या माँ नहीं है?"

"एक दिन तो मौत बदी है, चलो देखा जाय––" यह निश्चय कर दरवाजे की ओट में खड़ी हो गयी––उसका दामाद बरामदे में खड़ा था––बिखरे हुए बाल, बढ़ी दाढ़ी, खुश्क, काला चेहरा, भयानक आँखें, फूले हुए नथने, चेहरे पर वही भयंकरता थी––पर बिचारापन भी था, कमजोर होकर आधा हो गया था। बुढ़िया की आँखों से दो आँसू टपके, नहीं मालूम कि भय में, या आश्चर्य में, या स्नेह में।

"यही तो सुब्रह्मण्य मुदली स्ट्रीट है? नं० ५४, देवराजन यहीं रहते

है न ?"

बुढ़िया हिम्मत बाँध बरामदे में खड़ी हुई—बुढ़िया को पहचानते ही उसका दामाद उसके पैरों पर पड़ गया। वह सिसक रहा था। मकानवाले दरवाजे के पास अचरज में खड़े थे।

बुढ़िया ने उनको देखकर कहा, "आओ, ऊपर चलो बेटा।" रामस्वामी—शकुन्तला का पिता—उसके साथ चल दिया।

"शकुन्तला कहाँ है ? अच्छी तो है ? यहाँ नहीं है ? कहाँ गयी है ?"

"अच्छी है, खा-पी लो, बाद में आ जायेगी।"

"कहाँ गयी है ?"

बुढ़िया थोड़ी देर चुप रही।

रामस्वामी ने फिर पूछा, "कहाँ गयी है ?"

"स्कूल गयी है—पहले कुछ खा लो।"

वह नहा-धोकर आया तो खाना तैयार था। खाना खाते वक्त बुढ़िया ने कई प्रश्न किये, वह कुछ का जवाब देता, और कुछ का न देता, जो देता भी तो उल्टे-सीधे जवाब देता। बुढ़िया को शक होने लगा कि शायद वह पागल हो गया है।

खा-पीकर जब वह उठा तो बुढ़िया ने पूछा, "स्कूल जाओगे ?"

रामस्वामी ने उस पर तिरछी नजर से घूरकर देखा, फिर मुसकराते हुए कहा, "नहीं, आ ही जायेगी, जल्दी क्या है ?"

"कहाँ जा रहे हो ?"

"दोस्तों से मिलने जा रहा हूँ।" कहकर वह तुरंत चला गया। बुढ़िया अचरज में थी, उसे सूझ नहीं रहा था कि क्या किया जाय ? चारपाई पर बैठ सोचती रही। थोड़ी देर बाद अपनी लट्ठी का सहारा लेकर मिल की तरफ चली, डरती-डरती कि कहीं रामस्वामी और उसके लड़के की भिड़न्त न हो जाय। नटेशन वगैरह तो इस मौके की ताक में ही थे। आदमी विचित्र-सा लगता है, यकीन करना भी अच्छा नहीं।

इधर, रामस्वामी सीधा शकुन्तला के स्कूल की ओर पहुँचा। भोजन

का समय था, लड़कियाँ बाहर खेल-कूद रही थीं। उसके जाते ही लड़कियों में तहलका मच गया जैसे तीतरों के झुंड को बाज़ दीख गया हो। लड़कियाँ उसके गले में बँधी टीन की चिमनी को देख, अचम्भे में दूर-दूर से देख रहीं थीं। वह आगे-आगे बढ़ता जाता और लड़कियाँ उसको घेरे-घेरे पीछे-पीछे चलती जाती थीं।

रामस्वामी सीधे हेड-मिस्ट्रेस के कमरे में पहुँचा, और उनसे रौब से पूछा, "शकुन्तला है क्या यहाँ?"

"तुम शकुन्तला के कौन हो?"

"पिता।"

हेड-मिस्ट्रेस ने उसको चोटी से पैर तक देखा, और चपरासी के हाथ एक खत लिखकर शकुन्तला के पास भेज दिया। रामस्वामी चपरासी के साथ-साथ जाने लगा। चपरासी ने उसे एक जगह बैठने के लिए कहा। वह न माना। हेड-मिस्ट्रेस ने बैठने की हिदायत की, तब भी वह न माना।

चपरासी ने धमकाकर कहा, "बैठो, स्कूल के अन्दर आने का आदमियों को हुक्म नहीं है। एक तो आने दिया, तिस पर यह बात! जल्दी क्या है, आ जाएगी?" सब लड़कियाँ उस तरफ देखने लगीं। रामस्वामी बैठ गया।

हेड-मिस्ट्रेस की चिट्ठी पा उनके कहे अनुसार पद्मा और शकुन्तला पिछले दरवाज़े से निकल गये। शकुन्तला ने अपने पिता को देखने से इनकार कर दिया। इसकी सूचना हेड-मिस्ट्रेस को सवेरे ही दे आयी थी। जब और लड़कियाँ उसके पिता के बारे में पूछने लगीं वह ज़ोर से रो उठी।

चपरासी ने आकर बताया कि शकुन्तला घर खाना खाने चली गयी है। रामस्वामी भागा-भागा घर गया। घर में ताला लगा हुआ था। वह फिर स्कूल में आकर बैठ गया। छुट्टी हुई और रामस्वामी घंटों फाटक के पास गली में बैठा रहा।

बुढ़िया को, पद्मा से साँझ को मालूम हुआ कि गणेशन् और शकुन्तला अपनी किसी रिश्तेदार के यहाँ चले गये हैं। बुढ़िया को सन्तोष भी हुआ और दुःख भी।

रामस्वामी आठ-नौ बजे के करीब आया और गुस्से में पूछा—"शकुन्तला कहाँ है ?"

"शकुन्तला घर नहीं आयी है।" बुढ़िया ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

"सच बताओ कहाँ है, नहीं तो······" रामस्वामी धमकाने लगा।

"नहीं तो···अबे, बता नहीं तो क्या करेगा ? जरा ज़बान सम्भालकर बात कर !" देवराजन् ने गुस्से में कहा।

"पता लग जायेगा नहीं तो क्या करूँगा।"– कहता-कहता वह गुस्से में नीचे चला गया। नीचे मकानवाले इनकी बातों को इस ध्यान से सुन रहे थे मानो कोई तमाशा देख रहे हों।

जब अगले दिन स्कूल खुला तो रामस्वामी फाटक के पास आती-जाती लड़कियों को ग़ौर से देख रहा था। लड़कियों के अन्दर चले जाने के बाद वह सारे शहर में शकुन्तला की खोज में घूमता रहा। शाम को फिर स्कूल के फाटक के पास आकर लड़कियों से शकुन्तला के बारे में पूछताछ करने लगा। उसे बताया गया कि शकुन्तला स्कूल नहीं आयी थी।

दूसरे दिन सवेरे से शाम तक फाटक के नज़दीक गली में रामस्वामी बैठा रहा। लड़कियों में डर छाया हुआ था, वे झुंडों में आती-जातीं, किसी को अकेले इधर-उधर जाने का साहस न होता।

तीसरे दिन वह स्कूल के बरामदे में आकर बैठ गया। रह-रहकर हरेक कमरे के पास जा लड़कियों को देखकर आता। चपरासी ने बहुत समझाया, वह नहीं माना। अध्यापिकाएँ भी उसको देखकर घबराई हुई थीं।

चौथे दिन वह आकर स्कूल में बैठ गया। पुलिस को इत्तिला दी गयी। पुलिस ने डरा-धमकाकर उसे बाहर किया। वह फिर अन्दर आ गया, मार-पीटकर भगाया, उनके जाते ही अन्दर वापस आ गया।

पाँचवें दिन भी वह स्कूल में हाज़िर था। पुलिस ने फिर भगाया। वह फिर आ गया। पहले तो उसे पकड़कर पुलिस स्टेशन को ले जाने की ठानी, पर उन्होंने पागल समझकर उसे छोड़ दिया।

अगले दिन सवेरे-सवेरे स्कूल के अहाते में काफी भीड़ जमा हुई थी।

रामस्वामी पेड़ की टहनी से गले में रस्सी बाँधकर लटका हुआ था। उसने आत्महत्या कर ली थी।

भीड़ में नटेशन कह रहा था, "यह देवराजन की करतूत होगी।" और नीचे के मकानवाला कह रहा था, "हाँ, उन दोनों में भिड़न्त भी हुई थी।"

बुढ़िया ज़मीन पर पड़ी-पड़ी सिर पीट-पीटकर रो रही थी।

१४

उस समाज में...

जंग का ज़माना था। अभी शराब बन्द नहीं हुई थी। हिन्दुस्तान को आज़ादी भी नहीं मिली थी।

शाम के सात बज रहे होंगे। मद्रास के एक शानदार होटल में उस दिन काफ़ी भीड़ थी। शहर के सब रायबहादुर, दीवानबहादुर, रायसाहब, जाने और कितने खिताबी हैसियत के अमीर-उमराव वहाँ हाज़िरी बजा रहे थे। अफसरों को पार्टी दी जा रही थी।

कुछ युवतियाँ—सजी-धजी, बनी-ठनी, बड़ी नज़ाकत से अच्छे-अच्छे पकवान परोस रही थीं। उनके चेहरे मुसकराहट से खिल रहे थे, चाहे दिल की हालत किसी की कैसी भी हो। शक्लों पर अदब-कायदे की चमक थी। सभी जगह चमचमाती रौनक थी। एक तरफ से अंग्रेज़ी संगीत आ रहा था। शराब का दौर भी चल रहा था।

हम एक कोने में बैठे थे—अनाह्वानित मेहमान से या ग़रीब रिश्तेदारों की तरह, घबराये हुए-से, चौकन्ने। उनकी रंगरेलियाँ थीं और हम तमाशबीन अख़बारनवीस।

"जब मौत मुँह बाकर सामने खड़ी हो तो ज़िन्दगी बिदक-सी जाती है।" वेंकटरामन ने सिर हिलाते हुए कहा—"राम! राम! इस ज़िन्दगी से तो ग़रीबी की बेहाली भली।"

वेंकटरामन पुराने ज़माने के आदमी हैं। बदलती दुनिया ने उन्हें हमेशा इधर-उधर देखते खड़े पाया है। रोज़ गीता-पाठ करते हैं। सवेरे-सवेरे घंटी बजा मन्दिर में परमेश्वर को जगा आते हैं। बड़े धार्मिक और नियम-पाबन्द

व्यक्ति समझे जाते हैं। दो पत्नियाँ हैं। चार बाल-बच्चे हैं। परले दर्जे के कंजूस हैं। पचास के करीब उम्र है। गप्पों की बुरी लत है। शहर के रईसों की हड्डी-हड्डी पहचानते हैं।

अखबार-मालिक की मेहरबानी समझिये या वेंकटरामन की होशियारी---वह पाँच-दस साल से रिपोर्टर का काम कर रहे हैं।

उम्र का लिहाज़ तो रखना ही होता है। हम लोग चुप रहे। पर वेंकटरामन जब कानाफूसी करना शुरू कर देते हैं तो उनका मुख ऐसे चलता है जैसे मन्त्र-पाठ कर रहे हों।

"इन औरतों को तो देखो---छाती तानकर अधनंगी-सी, कैसे ठुमक-ठुमककर चल रही हैं। न उन्हें शर्म, न देखनेवालों को शर्म। सभ्यता के नाम पर यह क्या वर्बरता है? और फिर यह शराब···"वेंकटरामन अभी कह ही रहे थे कि मेनन कह उठे---"आँखें बन्द कर लीजिये, इतना बुरा लगता है तो।" मेनन नौजवान पत्रकार हैं। उनकी वेंकटरामन से झपट बनी ही रहती है।

वेंकटरामन ने आँखें बन्द की हों या न की हों, ज़बान जरूर थोड़ी देर के लिए बन्द हो गयी।

होटल से परे बरामदे में ज़ोर का अट्टहास हुआ। एकत्रित सज्जन चौंके। गोरों की तीखी नज़रें उस ओर फिरीं। महिलाएँ एक क्षण तनकर बैठ गईं। फिर एक-दूसरे को उसे दिखाकर मुसकराने लगीं। परन्तु होटल के नौकर ऐसे खड़े रहे जैसे कोई आवाज़ ही न आयी हो।

बरामदे में एक लंबा-चौड़ा युवक लड़खड़ा रहा था---बड़े-बड़े बिखरे बाल, तेल और पसीने से सना चेहरा, होठों में राख होती मोटी सिगरेट, खुली टाई, बढ़िया कीमती कपड़े। वह नशे में चूर था।

"गिलास···गि···ला···स···ए बेरा! गिलास लाओ···सुनते नहीं बेवकूफ···नायर, गिलास···यह रहा गिलास···हा-हा-हा···दिल टूट गया कम्बख्त का···हो-हो···हो···" उसके हाथ में गिलास का टूटा तला था। गिलास को उठाते ही दीवार से मारकर तोड़ दिया था। वह दो कदम इधर

चलता तो दो कदम उधर फिसलता—एकदम डाँवाडोल।

नौकर भागे-भागे एक गिलास ले गये, उसमें शराब भर उसके हाथ में थमा दिया। वह फिर बड़बड़ाने लगा—"दिल एक गिलास है जिसमें शराब भरी है···श-रा-ब, जानते हो···दिल शराब का प्याला है···मगर···म-ग-र काँच है···" शराब की एक घूँट खाँसते-खाँसते गले के नीचे उतार दी—"कम्बख्त···काँच है···दिल काँच है···" उसने ज़ोर से हँसते हुए गिलास को फिर से फर्श पर फेंक दिया—"···टूट जाता है और शराब···शराब गायब हो जाती है···हह हह···हह···"

उसका हँसना था कि सजी-धजी महिलाएँ, जो चपटी मुसकानों में अभी तक अपने अट्टहास को रोकने का प्रयत्न कर रही थीं, फूट पड़ीं। हँसी के मारे लोट-पोट हो गयीं।

पियक्कड़ की नज़र भी उन पर पड़ी। वह लड़खड़ाया। बड़बड़ाने लगा—इस बार ज़रा सँभलकर, जैसे नशे में कुछ जाग गया हो—"···खूब जानता हूँ। तुम सब किस खेत की मूली हो···जानता हूँ···"

युवतियाँ नाक-भौं चढ़ाकर एक-दूसरे की ओर देखने लगीं।

"···अरे वही खेत···हा-हा-हा जहाँ चौबच्चे का पानी फेंका जाता है···खादवाला गंदा पानी···तभी ये मूली इतनी मोटी हुई हैं, लंबी-चौड़ी···चिकनी···चुपड़ी···हँस पड़ी···अरे देना एक और गिलास···कहाँ गया कम्बख्त?"

पासवाले नौकर ने उनको शराब का गिलास दे दिया। युवतियों की आँखें शराब-सी लाल हो रही थीं, तिलमिला रही थीं। शराब की घूँट पी वह चिल्लाने लगा।

"तुम्हारा दिल काँच का नहीं है···दिल ही नहीं है···ह-ह-ह-ह! वह लोहे का है···तिजोरी है जिसमें रुपये···पैसे ठनठनाते हैं···शराब नहीं छलकती···शराब काँच के दिल में ही छलकती है···यह दिल काँच है···समझे! न दिल···न दिमाग। मूली हो···मूली···समझे!" वह लड़खड़ाता हुआ अन्दर आने लगा।

"उसे बाहर करो···करो बाहर !" युवतियाँ चिल्लाने लगीं। नौकर एक दूसरे की ओर विवश हो देखने लगे।

"क्यों नहीं करते उस पियक्कड़ को बाहर ? यह शरीफ आदमियों की पार्टी है या···या···या···करो उसे बाहर!" युवतियाँ आगबबूला हो रही थीं।

"यह होटल में ही रहते हैं···रईस हैं।" नौकर गिड़गिड़ाया।

"इनके बाप का होटल है ? बाहर करो! दे दिया हुक्म ! है किस··· खेत की मूली···" युवक कुछ और आगे बढ़ा—कुर्सी को पकड़ना, कुर्सी उसके हाथ से निकल गयी और वह नीचे गिर पड़ा। दो-चार गोरे अफसर आये और उसे उठाकर उसके कमरे में ले गये।

वेंकटरामन की ज़बान फिर मचल उठी—"कह रही हैं कि बाहर करो ···बाहर करो!" वह हँस पड़े—"देखते रहना कि दो-तीन घंटे बाद इनकी हालत उससे भी गयी-गुजरी होगी। नशे में चक्कर खा रही होंगी···और जनाब, ज़बान ऐसी चलेगी जैसे अपने पति की शक्ल देख ली हो···समझे!" वेंकटरामन ने मुझे गुदगुदी करते पूछा।

"मालूम है वह कौन है ?" वेंकटरामन ने पूछा।

"नहीं···नहीं···"

"तुम तो कहानी लिखते हो···मालूम हो जाय तो अच्छी-सी कहानी बन जाय···बेचारा मुहब्बत का मारा···है···"

"सुनेंगे—पहले काम तो कर लें। अब यह आखिरी भाषण चल रहा है··· खतम होते ही इसकी कहानी बताना।"

"तो तुम क्या इसकी रिपोर्ट दोगे ! ये पार्टियाँ चाय-पानी के लिए होती हैं—रिपोर्ट के लिए नहीं ! आओ भी, उससे मिल आयें···मेनन से कह दो वह तुम्हारे बदले भी रिपोर्ट दे देगा। चलो, चलें।"

वेंकटरामन ने मेरा हाथ पकड़ा और बरामदे की ओर ले गया···कमरे के बाद कमरा था। बरामदा एकदम साफ-सुथरा, खस-खस की टट्टियाँ लगी हुई। महक-सा रहा था। शानदार होटल, बड़े आदमियों का रहन-सहन।

"यह बड़ा रईस आदमी है। माँ-बाप ने, सुनते है, इस जंग के ज़माने में

लाखों रुपया कमाया है···लकड़ी का व्यापार करते हैं। यह भी पहले किसी व्यापार में था––अब बस इसी होटल में रहता है––दो साल से यहीं है। दिन के छत्तीस रुपये सिर्फ रहने और खाने-पीने के ही देने होते हैं। फिर शराब दिन में दो-तीन बोतल तो गुटक ही जाता होगा। ये लोग तो पैसा ऐसे खर्चते हैं जैसे हाथ की मैल हो।"

"आखिर क्यों ?"

"यह जरूर पेचीदा सवाल है···उससे ही पूछ लेना। कमरा आ ही गया है।"

कमरा खुला हुआ था। किवाड़ से सटा एक नौकर खड़ा था। बाद में एक परदा था। पंखा चल रहा था। नौकर ने अंदर जाने से मना किया। शायद उसके मालिक को हमारा आना मालूम हो गया था। वह चिल्लाया—"आने दो !"

वह अन्दर आरामकुर्सी में सिर लटकाये पड़ा था। फर्श पर उल्टी पड़ी हुई थी। पैर कुर्सी पर रखे हुए थे। आँखें खुली हुई थीं––पर कुछ देखती नजर नहीं आती थीं। वह होशी और बेहोशी में मस्त झूम-सा रहा था। एक और नौकर पंखा कर रहा था।

"तुम हमें देखने आये हो···देखने आये हो···ऊँ ऊँ ऊँ···देखें कब तक देखते हो···बस दो-चार महीने और···दे बे शराब···शराब···"

नौकर ने होठों पर गिलास रख शराब पिला दी।

"हमें ऊ-ऊ···हमें देखने आये हो···चिड़ियाघर की चिड़िया है···उड़ जायेगी चिड़िया जल्द ही···हटो-हटो···" वह झटके-से उठा जैसे हम पर लपकना चाहता हो और उल्टी करने लगा। हम बाहर चले आये।

"बुरी हालत में है बेचारा !" मैंने कहा।

"बुरी हालत में···? खुद ही तो मोल ले रखी है···ये लोग भी खूब हैं। छोटी-सी बात को लेकर जीने-मरने का सवाल बना लेते हैं। कहते हैं—इज्जत का मामला है पर इनका इज्जत का पैमाना है क्या ? अपने को जो चाहा सो समझ लेते हैं। रईसी चोंचले हैं !"

"जाने भी दो—वह तो ऐसा लगता है जैसे पी-पीकर अपनी जान ही ले लेगा। यह खुदकशी का अच्छा तरीका है!"

"अजी साहब, आपको नहीं मालूम यह रईसी तरीका है।"

"आखिर बात क्या है?"

हम बातें करते-करते अब होटल के बाहर चले आये थे। रात के दस-ग्यारह बज रहे होंगे। पार्टी अब भी चल रही थी।

"सुना नहीं तुमने उसको बड़बड़ाते हुए? दिल काँच है—चोट करो तो टूट जाता है!"

"लगता है किसी ने चोट मारी है और उसका दिल टूट गया है।"

"बिलकुल सही; और तुम जानते हो न टूटे काँच की मरम्मत होती है, न टूटे दिल की ही।"

"और जब दिल ही टूट गया—तो जीने से फायदा क्या? बोतल को पकड़ रखा है। जल्द ही तरा देगी इस दुनिया से। बुरी हालत है बेचारे की।"

"टूटना और न टूटना मानने की बात है। बेवकूफी है। अगर किसी और पर वही गुजरती जो इस पर गुजरी है वह शायद ठीक वैसे ही धूल-धाल झाड़-कर उठता जैसे कि साइकिलवाला गिरने पर उठ खड़ा हो फिर साइकिल चलाने लगता है। अपनी-अपनी बात है।"

"क्या गुजरी?"

"गुजरी तो क्या इश्क की बीमारी थी। पैसेवाले तो आज ये हो गये हैं। कभी सुनते हैं कि इसके दादे-परदादे बढ़ई का काम करते थे। मन्दी के दिनों में इसके पिता ने चाय की एक छोटी-सी दुकान भी चलायी थी। खून पसीना करके पैसा कमाया है। आज कालीकट में दसियों बड़े-बड़े मकान हैं। पाँच-छः कारें हैं। सैकड़ों आदमी मातहत काम करनेवाले हैं। खूब रुपया बनाया है। रईसी के सब ठाट-बाट हैं।

"पर जब इसकी पढ़ने की उम्र थी," सीधी सुनसान सड़क थी और वेंकट-रामन् चलते-चलते कहते जाते थे—"तब पिता की यह हालत थी कि स्कूल

की फीस देने के लिये भी पैसे न थे। मुश्किल से इधर-उधर से माँगकर गुजारा करते थे। यह भी पढ़ता था। पर वक्त आया कि यह पढ़ना चाहता था और पढ़ाने के लिये माँ-बाप के पास पैसे न थे। पढ़ाई छोड़नी पड़ी। पाँच-छः श्रेणी तक शायद पढ़-लिख गया था। चाय की दुकान को चलाने में हाथ बँटाने लगा।

"दो-तीन साल बाद इनकी किस्मत भी जगी। जंग आया। इसके पिता ने गोरे अफसरों की वे जरूरतें पूरी कीं जो शरीफ आदमी अक्सर नहीं किया करते। फौजी कंट्राक्ट मिल गया। भगवान् ने छत तोड़कर दोनों हाथ दिया।

"तब इनकी इज्जत···आबरू, ओहदा सब-कुछ समाज में बढ़ने लगा। बड़े आदमियों की सोहबत में उठने-बैठने लगे। मुरादें भी बड़ी-बड़ी होने लगीं। और तुम जानते ही हो कि जब थोड़ा-बहुत पैसा जमा हो जाता है तो वह खुद ही अंडे देने लगता है। हजार के दस हजार बनते हैं और दस हजार के पचास हजार, पचास हजार के लाख। ये लखपति हो गये। बिना किसी मेहनत के रुपया-पैसा बरसने लगा।

"बढ़ती जवानी थी; और रईसी की गर्मी थी। ऊपर-ऊपर उछलने लगे। अपने कद का ख्याल न रहा।"

"ये तो किसी छोटी जाति के आदमी हैं; पर दोस्ती उन लोगों से थी जिनकी समाज में ऊँची हैसियत थी; किसी अच्छी बड़ी जाति के घराने की लड़की से इसकी जान-पहचान हो गयी। और होते-होते वह जान-पहचान प्रेम के रूप में पक भी गयी।

"सुना है वह अच्छी पढ़ी-लिखी, नये विचारों की नवयुवती थी। इससे उसने हेल-मेल तो बनाये रखा—पर इस पर अपना दिल न खो बैठी। मगर यह तो मजनूँ बना हुआ था!

"शायद इसका यह ख्याल था कि अगर किसी के पास पैसा है तो सब कुछ है। और भला क्यों न सोचता, यही बात तो हम सब जगह देखते हैं। पर शायद इसका यह न मालूम था कि खानदानी लोग शादी-ब्याह के बारे में वैसे ही भाव-ताव करते हैं जैसे कुत्तों के खरीदने में। पाँच-छः पुश्तों की

छानबीन करते हैं। खैर !

"माँ-बाप ने किसी रिश्तेदार की लड़की से शादी तय की। वेपढ़ी-लिखी, पुराने जमाने की थी। इसने अपना निश्चय पहले से ही कर रखा था। उस लड़की से शादी करने से इनकार कर दिया, और पागल की तरह अपनी 'प्रेयसी' के यहाँ हाजिरी बजाता रहा।

"मुहब्बत कुछ दिन चली। इसने लड़की के सामने शादी का प्रस्ताव किया। लड़की ने न उसे ठुकराया, न स्वीकार किया। पर इसको यह मालूम हो गया कि उसने गलत स्त्री के सामने प्रस्ताव रखा है। इसने फिर कोशिश की, पर बौने को उछलने पर भी खट्टे अंगूर नसीब नहीं होते।

"यह पागल-सा हो गया।

"थोड़े दिनों बाद इसका छोटा भाई, जिसने मद्रास के लॉ कॉलिज की वकालत पास कर ली थी, वहाँ के किसी रईस की खूबसूरत लड़की से शादी करके आया। वह मजे में था। उसको मनचाही पत्नी मिली थी। पढ़ी-लिखी थी। माँ-बाप ने कारोबार की बागडोर उसे सौंप दी। उसकी स्थिति—समाज में जैसे किसी ने कोई स्विच दबा दिया हो—एकदम ऊँची हो गयी थी। ईर्ष्या और निराशा के तेजाब में यह भुना-सा जाता था।

"थोड़े दिनों बाद उस लड़की ने भी किसी आई. सी. एस. अफसर के साथ शादी कर ली। इसकी आँखें खुलीं। असलियत दिखाई देने लगी। ऐसा लगा जैसे किसी ने घाव पर नमक छिड़क दिया हो।

"तब से इसने अपनी पतवार छोड़ दी और शराब पीने लगा। काँच का दिल टुकड़े-टुकड़े हो गया था। शराब पीकर अच्छे घराने की लड़कियों से छेड़छाड़ करता था। कालीकट के लोग तंग आ गये। सुनते हैं इसकी मरम्मत भी की। अब भी जब कभी किसी बनी-ठनी औरत को देख लेता है तो इसका पारा चढ़ जाता है। देखा नहीं अभी कैसे चिल्ला रहा था—'किस खेत की मूली है !'

"माँ-बाप ने इससे पीछा छुड़ाने के लिए इसे मद्रास भेज रखा है। और लगता है इसने कसम खा रखी है कि वह पी-पीकर अपनी ज़िन्दगी खतम कर

देगा।

"रात-दिन इसी होटल में कभी लड़खड़ाता है, तो कभी बड़बड़ाता है, तो कभी पड़ा रहता है चौबीसों घंटे शराब के नशे में। डाक्टरों का कहना है कि पाँच-छः महीने और जियेगा, फिर—खतम।

"इन लोगों की समाज में वह हालत है जो किसी अपढ़ पंसारी रईस मारवाड़ी की फर्स्ट-क्लास के डिब्बे में बैठे अंग्रेजी में गिचपिच करनेवाले शौकीन लोगों के बीच होती है। न वे थर्ड-क्लास के रहते हैं, न फर्स्ट-क्लास के ही बन पाते हैं।

"अगर काँच पत्थर से टक्कर खाने के लिए उतारू हो जाय तो टूटेगा नहीं तो और क्या होगा? बस, इस बेवकूफ़ की यही कहानी है।" यह कह वेंकटरामन मेरी तरफ देखने लगे। मैं यह सोच नहीं पा रहा था कि इस बेचारे को बेवकूफ कहूँ कि नहीं।

वेंकटरामन का दफ्तर नजदीक आ गया था। वह चले गये।

* * *

रविवार का दिन था। घुड़दौड़ हो रही थी। हम पहले अहाते में थे—जहाँ शहर के मान्य, प्रतिष्ठित लोग थे—राजे-महाराजे, रानियाँ-महा-रानियाँ, लखपति, व्यापारी, अफसर वगैरह।

एक घुड़दौड़ खतम हुई और दूसरी शुरू होने में अभी आधा-एक घण्टा बाकी था। चाय-पानी के लिए पासवाले क्लब के केन्टीन में गये।

वहाँ अच्छी-खासी भीड़ बेंत की कुर्सियों पर बैठी हुई थी। फेशनेबल स्त्रियाँ भी थीं। 'ऊँचे' समाज की शिष्टता के अनुसार वे सबसे खुल-मिल-कर बातें कर रही थीं। घोड़ों के बारे में बातचीत हो रही थी।

मैं भी उधर चल पड़ा। वही नवयुवक—सूखे, लम्बे बाल, धँसी हुई आँखें, खुश्क चेहरा, हड्डियाँ निकली हुई, दुबला-पतला, ढीला-ढीला कोट और पतलून पहने, खिड़की के सामने शराब का गिलास हाथ में लिये खड़ा था। उसके बगल में एक अधेड़ स्त्री थी—लम्बी, सुन्दर, पढ़ी-लिखी, 'ऊँचे' समाज की लगती थी। उसके हाथ में भी शराब का गिलास था और

होठों में सिगरेट।

उसकी जान-पहचानवाला उस तरफ से कोई निकल जाता तो वह नवयुवक उसको जबरदस्ती शराब का गिलास दे देता। उसकी चाल में वही लड़खड़ाहट थी—जैसे रस्सी बाँधकर कोई उसे खींच रहा हो। उसने लोगों को उस आधा घण्टे में कितने ही शराब के गिलास बाँट दिये थे।

मैं उसे पाँच-छः महीने के बाद देख रहा था। इन पाँच-छः महीने में वह बाँस-सा दुबला हो गया था। चेहरे पर मौत की परछाई दिखायी देती थी। और यह भी फर्क था कि उसके बगल में एक बनी-ठनी स्त्री थी······ उस श्रेणी की जिसके लिए मुझे बताया गया था कि उसे नफरत थी। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ।

मैं अपने एक जान-पहचानवाले जमींदार साहब के पास जा बैठा। गनीमत, अकेले ही बैठे थे और उसी नवयुवक की दी हुई शराब पी रहे थे।

मेरे बैठते ही वह कहने लगे—"मतवाला है। शराब लुटा रहा है। इसने प्रण कर रखा था कि शराब पी-पीकर वह मर जायेगा······अब कुछ······ क्या तुम इसे जानते हो?"

"एक बार देखा जरूर है, बहुत-कुछ सुना भी है। यह इसकी बगल में कौन है?"

"कोई पारसी है। मद्रास हाल ही में आयी है। इससे ज्यादा हमें भी नहीं मालूम। लोगों को यह जरूर कहते सुना है कि वह इससे काफी मिल-जुल गयी है। दोनों में अच्छी दोस्ती है······इससे उम्र में जरूर बड़ी मालूम होती है।"

"तो क्या इनका शादी करने का इरादा है?"

"स्त्री की नजर इसके पैरों पर लगती है······सचमुच प्रेम होता तो इसे इस तरह शराब पीने न देती। है कुछ जरूर मामला!"

"या यह भी मुमकिन है कि इसे ही इस पढ़ी-लिखी स्त्री से प्रेम हो गया हो?"

"यह भी प्रेम का दिखावा करके इस स्त्री से ठीक वही बात शायद

कहना चाहता हो जो इसकी प्रेयसी ने एक बार इससे कही थी। कह नहीं सकते।"

"पर सुनते हैं इसकी उम्र-भर यही मुराद रही कि किसी ऊंचे, पढ़े-लिखे परिवार की स्त्री से शादी करे······एक बार तो मुँह की खानी पड़ी। अब शायद मौका मिला है।"

"शायद······हमें तो यकीन नहीं? पर रहेगा यह कितने दिन जिन्दा?"

घुड़दौड़ शुरू हुई। देखते-देखते कुर्सियाँ सब खाली हो गयीं। सब अपनी-अपनी जगह लपके।

वह नवयुवक भी गिलास पकड़े-पकड़े दौड़ा। सीढ़ियों पर जरा ठोकर-सी लगी और औंधा गिर पड़ा। माथे पर चोट लगी थी। बेहोश था।

वह यह भी न जान सका कि जिस घोड़े पर उसने पन्द्रह हजार रुपये की बाजी मार रखी थी, वह घुड़दौड़ में जीत गया था।

डाक्टर के आते-आते शराब ने उसके प्राण ले लिये थे; और वह स्त्री उस नवयुवक की घुड़दौड़ के पन्द्रह हजार रुपये के टिकट हाथ में लिये खड़ी थी—स्तब्ध, चकित!

१५

जीने की सज़ा

वह सिगरेट सुलगाकर मेरे सामने बैठ गया। धुँधियाले कपड़े थे। तंग कुर्त्ता और धारीदार तहमद। बाल पीछे की ओर दाबकर मोड़ रखे थे।

होटल खाली है। होटल तो क्या शेड कहना चाहिए, शायद शेड भी नहीं कहा जा सकता। बीस-तीस फुट की जगह है। कनस्तरों की दीवार—चपटी की हुई टीन की छत। दो-चार लकड़ी के गट्ठर, उस पर अमलतास का सूखा नंगा पेड़। टीन काली। मेज़ पर भी काला पत्थर। मिट्टी का फर्श भी काला। एक कोने में छोटी-सी भट्ठी और चाय बनाने का चमकता बड़ा बर्तन। मेरे बगल में एक ऊँची मेज़ है, उस पर बिस्कुट, बन, सिगरेट वगैरह के मर्तबान हैं। इसके अलावा दो-तीन मेजें थीं और पाँच-दस टीन की कुर्सियाँ।

पिछवाड़े में खड्ड है। खड्ड में छोटे-बड़े धतूरे के पेड़ हैं। खड्ड से परे पादरी का बड़ा मकान है। मकान के प्राकार से सटी छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ हैं।

थोड़ी दूर हटकर स्टेशन का चबूतरा है, जहाँ गर्मी में बे-घरबार चाँद-तारों की निगरानी में पुलिसवालों की मेहरबानी से रात बसर करते हैं। सामने एक सड़क, फिर रेल की पटरी, उस पर दौड़ती बिजली की गाड़ी, एक्सप्रेस, मेल, मालगाड़ियाँ।

होटल में रात-दिन चहल-पहल रहती है। चौबीसों घंटे ही लगभग खुला रहता है। स्टेशन आने-जानेवाले और जान-पहचानवाले आते ही रहते हैं। बड़े-बड़े पढ़े-लिखे, पैसेवाले तो नहीं, पर खरीदारों की कभी

कमी नहीं रहती। पासवाले कॉलिज के लड़के अक्सर रात को दुकान पर आते हैं। घंटों चाय पीते-पीते गप्पें मारते हैं। कालिज रेल की पटरी के किनारे स्टेशन से कोई चार-पाँच फर्लांग दूर है।

"हमारी जिन्दगी भी क्या है? इस बिजली की गाड़ी की तरह ताम्बरं तक गई, फिर बीच वापस। आगे-पीछे, पीछे-आगे——ताम्बरं-बीच, बीच-ताम्बरं। जैसा आज वैसा कल, जैसा कल वैसा परसों। क्या जिन्दगी है?" सामने बिजली की गाड़ी खट-खट करती जा रही थी। अच्युतन जिन्दगी से ऊबा हुआ स्थिर बैठा था।

रात के ग्यारह बज रहे होंगे। चाँदनी रात है। काली मेज पर छोटी-सी बत्ती जल रही है। एक हरीकेन लैम्प धीमा करके फर्श पर रखा हुआ है।

अच्युतन ने मुझे चुप पा पूछा, "आज तो अखबारवालों की जबान पर भी लगाम लग गई है। काहे को दुनिया से एकदम नाराज़ हो रहे हो?"

"एक और कप चाय दो।"——मैंने कहा।

"क्यों आज सोने का इरादा नहीं?"

"नींद वैसे भी नहीं आयेगी। हम-जैसों को नींद भी नसीब नहीं।"

"क्यों? बात क्या है मियाँ? कुछ नशा कर लिया था क्या? अखबार-वालों ने पर्चा तो नहीं पकड़ा दिया है?"

"हूँ।"

"हूँ, वही ताम्बरं बीचवाली बात। आगे-पीछे।" इतने में एक और ट्रेन गुजरी। "भला अखबारवालों का भी कोई ठिकाना है? फिर तुम्हारे मालिक की बात तो कहनी ही क्या? कल तक जेल की हवा खा रहा था और आज बड़ा आदमी बना फिरता है—अखबार का मालिक। यह लड़ाई क्या हुई कि हर तरह के उल्टे-सीधे चोर-चपाटे काले बाज़ार में पैसा कमा, अखबार चला शरीफ बने फिरते हैं। सम्पादक——काला अक्षर भैंस बराबर, सम्पादक। इन्कम-टेक्सवालों से बचने के लिए अखबार चला दिये——पैसे के पैसे बचे और सेवा की सेवा हो गई; रईसी की रईसी! मैंने तो तुम्हें पहले ही कहा था।"

"कहा तो था पर कौन दौड़-धूप करे——ऐरे-गैरे की खुशामद करता फिरे ? आजकल तो जमे हुए अखबारवालों का यह ख्याल है कि लिखने-वाले उन्हीं के खानदान में पैदा होते हैं। दूसरों के लिए नौकरी कहाँ ? दिन-रात खून पसीना करो और नाम किसी और का हो। जाने दो, हटाओ।"

"हाँ, है——यह पाँचवीं बार या छठी बार······"

"छठी, जब से कॉलिज से निकला हूँ, इन्हीं अखबारों के कठघरों में ज़िन्दगी काट रहा हूँ। एक से बाहर तो दूसरे के अन्दर। किसी और काम के लायक भी न रहे। तुम्हारा काम ही भला, न कोई कहनेवाला, न पूछने-वाला, न इस्तीफ़ा न बर्खास्तगी।"

मेरी चाय खत्म हो गई। मैंने भी सिगरेट निकाली और पीने लगा। हम दोनों के बीच धुएँ का परदा था। "वाह, खूब कही !" उसने इस तरह मुसकराते हुए कहा मानो खुशी का अभिनय कर रहा हो——"हो, हो ! मेरा भी अच्छा जीवन है——कोल्हू के बैल का-सा।"

"दर-दर भटकनेवाले कुत्ते की ज़िन्दगी से तो अच्छा है।" मैंने कहा।

"हाँ, सबको अपने ही घाव बड़े लगते हैं। सच तो यह है, चाहे सड़क पर चलो, या पेड़ों की छाया में, या कोल्हू के पीछे——चलना तो है ही। कम-से-कम हम चल तो रहे हैं। अपाहिज बन भीख तो नहीं माँग रहे।"

"यह भी क्या चलना है ? ताम्बरं से बीच तक और बीच से ताम्बरं तक।"

"पर उनकी भी तो सोचो जो ताम्बरं से चले और एग्मोर में अटक गये। न इधर, न उधर। माना, ऐसे कई खुशनसीब ज़रूर हैं जो एक बार निकलते हैं तो पीछे हटने का नाम नहीं लेते। आगे-आगे ही चले जाते हैं।"

"अभी तुम खिझे हुए थे कि तुम्हारी ज़िन्दगी बीच से ताम्बरं तक और ताम्बरं से बीच तक ही है और अभी-अभी ख्याल बदल लिया।"

"मैं अपनी मुशक्कत पर रोना चाहता था, पर तुम्हारी मुसीबत को देखकर अपनी मुसीबत भूल गया——भले ही मेरी दौड़ ताम्बरं तक ही हो, एग्मोर में अटक तो नहीं गया। यह तो बताओ आखिर हुआ क्या ?"

"बहुत दिनों से साजिश चल रही थी—अब वे कामयाब हो गये। सफल पत्रकार होने के लिए आजकल जोरदार कलम की जरूरत नहीं है। चिकनी-चुपड़ी बातें करने का हुनर हासिल हो तो कहीं भी कोई काथी की तरह टिककर रह सकता है। पिछले हफ्ते दिन की ड्यूटी थी। काम कर रहा था, इतने में मालिक आया और एक बड़ा-सा रजिस्टर मेरे सामने टाइप करने के लिए रख दिया—लकड़ी के व्यापार का हिसाब था। मैंने टाइप करने से इन्कार कर दिया। अव्वल तो मैं टाइपिस्ट नहीं हूँ, फिर मेरा अपना काम था, जनाब खौल गये। दो-चार दिन कुछ नहीं बोले। इस हफ्ते मेरी रात की ड्यूटी है, आज जब दफ्तर गया तो मेज़ पर बर्खास्तगी की चिट्ठी थी, लेकर चला आया।"

"चलो, अच्छा ही हुआ, छुट्टी मिली। ऐसे गिद्धों के चंगुल में पड़ मांस के टुकड़ों की तरह उड़ने से अच्छा है कि उड़ो ही न। जब तुम उप-सम्पादकों की यह हालत है तो मजदूरों की क्या हालत होगी?" उसने बची-खुची सिगरेट पर आखिरी दम लिया और मेरी तरफ गौर से देखने लगा।

भट्टी के पास कुछ खटखट हुई। लकड़ियाँ हिलीं। अच्युतन हाथ में लालटेन ले झट उस तरफ देखने गया। "इन चूहों के मारे नाक में दम आया हुआ है, खाने को खाते हैं पर पैसे नहीं देते।" वह मुसकरा दिया।

अच्युतन कद्दावर है—छः फुट का। अच्छा खूबसूरत चेहरा है। रंग साँवला। देखने में रौबीला। जब वह अपना तहमद बाँधकर, बाल बनाकर, आस्तीनें मोड़कर निकलता है तो सम्भव है उसे कोई शहर का गुण्डा समझ ले। बड़ी-बड़ी आँखें, कुछ क्रूर-सी, कटी-टेढ़ी मूँछें।

मलाबार का रहनेवाला है। मुझसे दस वर्ष बड़ा है। करीब-करीब चालीस वर्ष की उम्र होगी। कसरती बदन होने से तीस-बत्तीस का ही लगता है। मैं ही उससे बड़ा लगता हूँ। पाँच-छः साल से होटल खोले बैठा है। आमदनी होती है—खर्च भी।

"चूहा नहीं है भाई, यह तो कुछ और नज़र आता है। टीन के नीचे खोदकर बड़ा-सा गढ़ा बना लिया है। सिगफ्रीड लाइन।" वह हँस पड़ा—

एक हाथ में लालटेन और दूसरे में लट्ठ ले पिछवाड़े की तरफ लपका। दो दुबले-पतले, खुजलीवाले कुत्ते गढ़ा खोदने में व्यस्त थे। गढ़े में बन्द-गोभी के टुकड़े थे। हमें देखते ही वे चम्पत हुए। अच्युतन ने कहा, "आखिर कुत्तों को भी तो जीना है।" उसने लालटेन मुझे पकड़ाई और खुद गढ़ा भरने लगा।

मैं सोच रहा था, "हम दर-दर के कुत्ते हैं---कोल्हू के बैल नहीं। कुत्ते भी चोरी कर पेट भर लेते हैं---भूखों के लिए यहाँ चोरी करना भी पाप है---और जिनका पेट भरा है वे दूसरों के मुख से कौर छीनते चूकते नहीं। खाली मुख में सिर्फ आह ही रह जाती है---पाप और पुण्य का भ्रम---कर्म का झूठा आश्वासन। अजीब कायदे-कानून हैं इस दुनिया के!"

"यार कहाँ हो? रोशनी तो दिखाओ, क्या सोच रहे हो, हज़रत? ये तो कई दिनों से मेहनत करते लगते हैं---अब पता लगा मांस कहाँ गायब हो जाता है।" अच्युतन गढ़े को जल्दी-जल्दी भरता जाता था।

अच्युतन कभी फौज में था। बर्मा भी भेजा गया था। तब वहाँ अँग्रेज़ों की हार-पर-हार हो रही थी। हिन्दुस्तान पैदल आना पड़ा---हर तरह की मुसीबतें झेलते-झेलते, खाना नहीं, पीना नहीं। ज़िन्दा था यही काफी था। उसके लिए खन्दक खोदना और बन्द कर देना बायें हाथ का खेल था।

"तुम्हारी फ़ौजी ट्रेनिंग भी अच्छी है। हम-जैसों को यह काम करना पड़ जाय तो हाँफते-हाँफते बुरी हालत हो जाये।"

"न हाँफना भी कोई बड़ी बात है। फ़ौजी ट्रेनिंग तो क्या थी, भगदौड़ थी। अच्छा होता लड़ाई होती और वहीं मर मिटते। इस रात-दिन की पिसाई से तो बचते।"

मैं चुप रहा। आज अच्युतन विचित्र मूड में था। वह अक्सर हँसता रहता था, शायद अपने को सान्त्वना देने के लिए और शायद इसलिए भी कि जब जिन्दगी की सजा झेलनी है तो हँसते-हँसते क्यों न झेली जाय। प्रसन्नता का आवरण वह बनाये रखता था। वह आवरण सम्भवतः पतला हो आज गिर गया था।

उसने खन्दक भर दी। अन्दर आकर वह कपड़े झाड़ रहा था—"क्यों, आज घर नहीं जाओगे ? बारह बजने को हैं।"

"नहीं, आज घर जाने का इरादा नहीं है। किस मुँह से जाऊं ? रोना-पीटना शुरू हो जायेगा। रात-भर कोई सोयेगा नहीं। उन बेचारों की भी फिजूल नींद हराम होगी। सोचते होंगे कि दफ्तर में काम कर रहा है—सोचने दो, सवेरे जायेंगे।"

"घर में अभी बताना मत। कोई तरीका निकल ही आयेगा—नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी घरवाली को फिट आ जाये उस दिन की तरह। फिर वैसी बेवकूफी न करना—अच्छा तो यहीं सो रहो।" वह दो मेजों को मिलाने लगा, मिलाकर उन पर दो-चार कागज बिछा दिये, एक कपड़ा सिर-हाने के लिये रख दिया और खुद बाल्टी-भर पानी ले बाहर नहाने लग गया।

नहा-धोकर अच्युतन ने भी दो मेजें मिलायीं, बिस्तर बिछा, आराम से लेट गया। "आँखें मीच लो, नींद आ जायेगी, कल देखा जायेगा।"

"नींद नहीं आयेगी—याद है वह अरुनाचलं—वही जो कॉलिज में साथ पढ़ा करता था—ऐनकवाला, गोरा-गोरा, टेनिस-प्लेयर—जमींदार है, उसके यहाँ शायद कोई नौकरी मिल जाय। सुना है, अब सोशलिस्ट हो गया है, भला आदमी है।"

"तो अखबारी नौकरी छोड़ दोगे ? इतने दिन का तजर्बा ?"

"क्या तजर्बा ? बच्चोंवाला हो गया हूँ—कहीं जमकर दो-चार पैसे तो बनायें। अखबारवालों का जीवन बंजारों के जीवन-सा है—कोई ठिकाना नहीं, कुछ नहीं, काफी कर ली है।"

"गुलामी गुलामी ही है—चाहे वह सोशलिस्ट जमींदार की हो या अखबारवाले की। हम-तुम जैसे गुलामी नहीं कर सकते—कोई कारोबार करो।"

"पूँजी कहाँ से आये ?"

"छोटी-मोटी दुकान के लिये कितनी पूँजी चाहिए ?" मैं उसकी दुकान को देखकर झेंप गया। दुकान छोटी हो या बड़ी, पूँजी उसी की थी।

यहाँ तो सिवाय कर्ज के कोई पूँजी नहीं।" मैंने कहा।

"देखा जायेगा, सो जाओ अब।" वह चादर तानकर सो गया। ताम्बरं जानेवाली आखिरी गाड़ी खट-खट करती चली गयी। मैंने भी आँखें मूँदी। इधर-उधर के ख्याल आने लगे—

कल घर में क्या होगा? रो-रोकर छत उठा देंगे। बच्चों की फीस देनी है। खाने-पीने का कोई इन्तजाम नहीं। वह कम्बख्त मुदलियार अपना सूद वसूल करने के लिये हर हफ्ते आ खड़ा होता है—गाली-गलौज, रोना-धोना। मैं कर ही क्या सकता हूँ? जाने दो, देखें, कैसी गुजरती है?

अच्युतन ठीक ही तो कहता है कि कारोबार क्यों न किया जाय। गुलामी होती नहीं, दुकान-वुकान के लिये पूँजी नहीं। फिर वही पिंजरे में। जिन्दगी का भी कितना संकुचित दायरा है। भगवान् ने दिल दिया है जो सातों समुद्र पार दूर-दूर घूम आता है; पर मजबूरियाँ भी इतनी दी हैं कि मनुष्य अपने अरमानों का बोझ ले मुश्किल से कहीं जा पाता है। वही ताम्बरं और बीच वाली बात। एक तरफ उड़ान है, दूसरी तरफ़ जकड़न। बीच में आदमी तड़पता है। इसी का नाम जिन्दगी है।

संकुचित दायरा, संकुचित ख्याल। मैं यह क्यों सोचता हूँ कि अखबार की नौकरी पंसारी के काम से किसी कदर बेहतर है या कोई काम किसी और काम से अच्छा है? इस अच्छे, बुरे, ऊँचे, नीचे काम की क्या मौलिक बुनियाद है? पढ़ा-लिखा हूँ, तो क्या? जीने के लिये काम करना जरूरी है। दुकान खोलने में क्या बुराई है? लोग क्या कहेंगे? कहनेवाले तो कहते ही हैं चाहे कुछ भी करो···पर···हैसियत और प्रतिष्ठा? अखबार की नौकरी में ही क्या प्रतिष्ठा है? सब भ्रम है।

पत्नी तो अन्दर-ही-अन्दर जल जायेगी। गरीब भले ही हो, है तो बड़े घराने की। बड़े घराने में शादी करना भी आफत है। चाहे फटेहाल हो, ख्याल वही रईसी के होंगे!

अच्युतन खुर्राटे मारने लगा। दिन-भर का थका-मांदा आराम से सो रहा था। जगते ही फिर वही रोजमर्रा का काम। हो सकता है वह मेरी तरह

पाँच-दस तथाकथित बड़े आदमियों को न जाने-पहचाने, तो क्या हुआ ? उन्हें जानकर हमें ही कौन-सा फायदा है ? हो सकता है साथ पढ़नेवाले उसे देखकर नाक-भौं चढ़ा लें—पर उनकी गुस्ताखी से उसे क्या मतलब ? सबकी अपनी-अपनी जिन्दगी है। अच्छा पढ़ा बी० ए० है। क्या हर्ज है अगर वह एक दुकान चलाकर मजे में अपना गुजारा करता है ? चोर-चपाटा तो नहीं है, किसी को लूटता तो नहीं ? पसीने की कमाई है।

मुझे बरबस गुजरे दिन याद आने लगे। आँखें मींच मैं किसी धुँधली होती दुनिया में उलझ गया।

* * *

हम बाग में बैठे हुए थे। पाँच-दस छोटे-छोटे पेड़—घनी छाया—घास। हमारे सामने कॉलिज की तिमंजली इमारत थी। अभी जमात शुरू नहीं हुई थी। सत्र का पहला दिन था। विद्यार्थी बरामदे में घूम रहे थे। चहल-पहल थी। हम गप-शप कर रहे थे।

फाटक से एक आदमी, फौजी कपड़े पहने, कागज का बण्डल हाथ में लिये लपका चला आ रहा था। शक्ल पर गँवारूपन था। चाल-ढाल से भी अजीब लगता था। कॉलिज के अहाते में उसे देख हमें हँसी आ गयी। दोस्त उसकी खिल्ली उड़ाने लगे। उसने एक बार हमारी ओर घूरकर देखा और सीधे प्रिंसिपल के कमरे में चला गया।

थोड़ी देर बाद घण्टी बजी। क्लास-रूम भरा हुआ था। हम बगल की बेंचों पर थे और वह फौजी टोपी उतारकर सबसे आगे की बेंच पर बैठा हुआ था। हमारी नजरें उसी पर गड़ी हुई थीं—धूप से तला हुआ, खुश्क चेहरा, गुण्डों की-सी भयावनी आँखें। हम सबसे उम्र में बड़ा, दो-चार कागज लिये हुए अध्यापक की ओर देख रहा था। वह अच्युतन था, दस साल पहले इण्टर की क्लास में। उसकी शक्ल लगभग अब भी वैसी ही है।

दिन गुजरते गये। मेरी मैत्री भी अच्युतन से बढ़ती गयी। वह शहर में रहता था। कुछ दिन बड़ी मुसीबतों में कटे, फिर उसकी किसी सिनेमा हाल में नौकरी लग गयी। पच्चीस रुपये तनख्वाह थी, उसी में गुजारा करता

करता था। बड़ा खुश रहता, उन्हीं पच्चीस रुपये में हमें कभी-कभी दावतें भी देता। बड़ा खुशमिजाज और मिलनसार था।

फौज से डिस्चार्ज होकर आया था। बीमार पड़ा, बाद में तिकड़मबाजी करके जंग के जमाने में ही फौज से चला आया था। बर्मा के बाद उसको फौजी जीवन से नफरत हो गयी। जैसे-तैसे मैट्रिक्युलेशन पास किया। फौजियों को उन दिनों कॉलिज में भी रियायतें मिल गयी थीं।

उसका पिता गुजर गया था। वह किसी लकड़ी के कारखाने में काम करता था। अच्युतन भी उसके साथ काम करता। माँ भी वहीं लगी हुई थी। खाली वक्त में बढ़ई का काम सीखता। दो-तीन भतीजों के सिवाय नजदीक का कोई रिश्तेदार न था।

सवेरे से शाम तक खून पसीना कर सारा-का-सारा परिवार काम करता पर मुश्किल से गुजारा होता। बढ़ई का काम सीख लेने के बाद नाइट स्कूल में पढ़ने लगा। थर्ड फार्म तक वहीं पढ़ा। पढ़ने में होशियार था। बाद में उसे कहीं बढ़ई का काम मिल गया। ज्यादा पैसे बनने लगे। पिता दमे के बीमार थे। जब इसकी आमदनी अधिक हो गयी तो पिता को काम से छुड़वा दिया, परन्तु थोड़े दिनों बाद ही उनका देहान्त हो गया।

इसकी जिम्मेवारियाँ बढ़ीं। जिस वातावरण में पला था उसमें कष्ट के सिवाय कुछ पाया नहीं था। पिता के गुजर जाने के बाद मन का रहा-सहा सहारा भी चला गया। बढ़ई था, आखिर कितनी आमदनी होती। गनीमत थी, दोनों वक्त खाना मिल जाता था। इधर-उधर के ठेके भी लेने लगा, पर नुकसान ही पहुँचा।

माँ ने बहुत जिद करके इसकी शादी भी करवायी, पर इससे वैवाहिक जीवन निभा नहीं। पढ़-लिखने के बाद, यह भी संभव है कि उसमें अपने बे-पढ़ परिवार के बारे में उदासीनता आ गयी हो। सुना है, माँ और स्त्री अब भी जिन्दा हैं पर शायद इसका दोनों से सम्बन्ध नहीं था। कभी उनका नाम तक नहीं लेता। समझ में नहीं आता इतने नरम दिल का आदमी अपने ही लोगों से दुश्मनी क्यों किये बैठा था; परायों की मदद करता और स्वकीयों

की अवहेलना करता था ?

जंग के दिन आये, उन दिनों हर तरह के आदमी भरती किये जा रहे थे। जिन्दगी से ऊबा हुआ था ही, फौज में भर्ती हो गया। ठोक-पीटकर उसे सिपाही बनाया गया। सारा हिन्दुस्तान देखा, बर्मा भी भेजा गया। उसका दृष्टिकोण बदला, उसमें चेतना आयी। वह पढ़-लिखकर कुछ बन जाना चाहता था। बढ़ई रह जिन्दगी काटना उसे पसन्द नहीं था।

* * *

एक दिन शाम को अच्युतन ने हमें किसी होटल में दावत दी। खा-पीकर हम गप्पें मार रहे थे। अच्युतन भी बातों में हिस्सा ले रहा था।

"क्यों आज सिनेमा नहीं जाओगे ?" मैंने पूछा।

"मुझे उन लोगों ने बर्खास्त कर दिया है।" उसने इस ढंग से कहा जैसे कोई बात ही न हुई हो या कोई ऐसी मामूली बात हो जैसे वक्त पर ट्रेन का चला जाना।

"क्यों ?"

"जाने भी दो, क्या करोगे सुनकर ?"

"तो नौकरी खो बैठने के उपलक्ष्य में यह पार्टी दे रहे हो ?" और सब तो गम्भीर बैठे रहे, वह ठहाका मारकर हँसने लगा। कोई जवाब ही नहीं दिया। उसके ऑफिस में तहकीकात करने पर पता लगा कि हम लोगों को मुफ्त सिनेमा हॉल में ले जाने के कारण उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा था।

अच्युतन खाली रहनेवाला आदमी न था। चूँकि होस्टल में पैसे ज्यादा लगते थे वह वहाँ रह नहीं पाता था, शहर में पाँच-दस दोस्तों के साथ किसी सस्ते होटल में रहता। कम पैसे में काम हो जाता। उसको मद्रास जितने बड़े शहर में महीनों ट्यूशन भी न मिलीं। बाद में, जब तक वह कॉलिज में रहा ट्यूशनें करता रहा। घुड़दौड़ में भी टिकिट बेचने का काम करता। उसने किसी से कोई सहायता नहीं माँगी, न छात्रवृत्तियों के लिये ही किसी की मिन्नत की। यह जरूर है कि साथ के पढ़ने-लिखनेवालों में उसके बारे में

कोई अच्छी राय न थी। उसका इधर-उधर आजीविका के लिये काम करना उन्हें न जँचता था।

अच्युतन की कोई जमीन-जायदाद थी नहीं कि खत लिखा और मनी-आर्डर जवाब में आ गया। उसके मन में भी शायद अजीब ख्यालों की भंवरें बनी रहतीं।

बढ़ई चूँकि बढ़ई है, उसका पढ़े-लिखों के समाज में कोई स्थान न था। इसलिए वह पढ़ना चाहता था। ज्यों-ज्यों पढ़ता जाता, पढ़े-लिखों की तरह उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ जगने लगीं। उसे खुद अपने इधर-उधर के काम अखरने लगे, पर विवश उन्हें करना ही पड़ता। उसके दिल में द्वन्द्व बना रहता, अब भी शायद वह द्वन्द्व है।

पाँच साल खतम हुए। हमारी तरह वह भी मेहनत से ग्रेजुएट बना। नौकरी के लिए दौड़धूप करनी शुरू की। कॉलिज से निकलते ही कई को बनी-बनाई नौकरी मिल जाती है—लेक्चरार, अखबारवाले, क्लर्क, यह, वह। अच्युतन फर्स्ट-क्लास में पास न हुआ था। उसके लिए नौकरी पाना मुश्किल काम था।

महीनों की बेकारी के बाद किसी फर्म में उसे नौकरी मिली। अब भी कभी-कभी उस नौकरी को याद कर सिगरेट के धुएँ में अपने को भूलने की कोशिश करता है। फर्स्ट लाइन बीच, शहर का शानदार हिस्सा, आलीशान चौमंजिला मकान। तहखाने में गोदाम था, वहीं उसकी मेज थी। न समुद्र की हवा, न सूरज की रोशनी। तंग, बदबूदार जगह, वहीं घुटे-घुटे उसे आठ घंटे काम करना पड़ता—क्या माल आया और क्या गया, ब्योरा रखना पड़ता। वह कई बार सोचता—क्या इसीलिए रात-दिन मेहनत कर शेक्सपीयर घोटा था ?

आठ घंटे का काम और दिन-रात की परेशानी—वह भी पिचहत्तर रुपये के लिये—गाँव में बढ़ई के काम से ही पचास-साठ रुपये कमा लेता था—उसके दृष्टिकोण में चक्कर आया। बढ़ई था तब कोई पूछनेवाला न था। अब पढ़-लिखकर क्लर्क बना तब भी कोई पूछनेवाला नहीं। जब

पसीना बहा हाथ से काम किया, कम-से-कम रात को आराम से सो तो लेना था। अब मारे ग्लानि के रात को नींद नहीं, दिन में चैन नहीं। काम में दिलचस्पी जाती रही। कुछ हिसाब-किताब में गल्ती कर बैठा, व्यवस्थापक से कहा-सुनी हुई और उसे नौकरी से निकाल दिया गया।

पर तब भी उसमें बढ़ई बनने का साहस न था। बेकार रहना, अगर रह सकता, उसने बेहतर समझा। कोई रिश्तेदार नहीं, दोस्त नहीं, सिफारिश करनेवाला नहीं, नौकरी मिलना आसान नहीं था। आजकल कोई डिग्री देखकर तो नौकरी देता नहीं। बहुत खोज के बाद कंजीवरं के किसी स्कूल में उनसठ रुपये की मास्टरी मिली। वहाँ कुछ महीने काम करता रहा।

एक दिन इन्स्पेक्टर आया—कोई मामूली-सी बात थी, इसकी कोई गल्ती भी न थी। उसने विद्यार्थियों के सामने कहा, "शट-अप!" इसे गुस्सा आ गया। इसने भी कहा, "शट-अप!" तू-तू, मैं-मैं हुई, परिणामतः इसे नौकरी खोनी पड़ी। फिर वही बेकारी के दिन।

उन्हीं दिनों जिस कॉलिज में हमने पढ़ा था, केन्टीन के ठेके के लिए विज्ञापन निकला। अच्युतन ने अपनी दरख्वास्त भेजी। उसका विश्वास था चूँकि वह कॉलिज का पुराना विद्यार्थी था इसलिए उसे जरूर ठेका मिल जायेगा। सम्बन्धित व्यक्तियों से मिला-जुला भी, पर सफलता न मिली।

कॉलिज के अधिकारियों का कहना था कि अच्युतन को ठेका देने से विद्यार्थियों पर बुरा असर पड़ेगा। वे यह सोचेंगे कि कॉलिज में पढ़-लिखकर केन्टीन चलाने के अतिरिक्त आदमी किसी लायक नहीं बनता।

अच्युतन ने जिद पकड़ी, उसने होटल ही चलाने की ठानी और वह भी कॉलिज के आस-पास। कॉलिज के नजदीक कोई मकान मिला नहीं। खाली जगह भी न मिली—आखिर यह स्थान मिला। कारपोरेशन की जमीन है। दो-तीन बार कारपोरेशन के अधिकारियों ने जाने के लिए कहा भी, पर न माना, उन्होंने जबर्दस्ती की पर यह जमा रहा। पुलिस ने एक बार दुकान के कनस्तर-बनस्तर उठा-उठाकर सब बाहर फेंक दिये।

यह अच्युतन न सह सका। कारपोरेशन के अधिकारियों के घर जा उन्हें खबरदार कर आये। गुण्डे की-सी शक्ल तो है ही, वे लोग घबरा गये। किसी अधिकारी ने कुछ आनाकानी की कि उसे दिक़ कर दिया, उसके घर में चोरी करवा दी, उसकी कार पर पत्थर फिकवा दिये। वह भी आखिर तंग आ मान गया। पुलिसवालों से भी दोस्ती कर ली। उसे कोई न छेड़ता। उसने फिर से दुकान लगा ली। इसके बाद और भी कई गरीब आ गये। पादरी के मकान के पास उन्होंने झोंपड़ियाँ बना लीं। अच्युतन उनका नेता है। आस-पास के लोग उससे घबराते हैं। कॉरपोरेशन को एक पाई भी नहीं देता, अगर कोई आता है तो डरा-धमकाकर चलता करता है।

उनकी दुकान पर पहले कॉलिज के विद्यार्थी ही आते थे—दुकान चल पड़ी। देखने को जगह खराब थी, पर चीजें अच्छी मिलती थीं—खाने-पीने के साथ अच्युतन की मुफ्त रसीली गप्पें भी। विद्यार्थी अब भी आते हैं। महीने में दो-तीन सौ रुपये बैठा-बैठा उसी शेड में बना लेता है। जहाँ तक कमाई का सवाल है, आराम से है, लेकिन मन में उसे यह काम जँचता नहीं। अक्खड़ स्वभाव है। जिद पर बैठा हुआ है।

दो गरीब विद्यार्थियों की हर साल फीस देता है—लगभग सौ रुपया महा-वार। इसके अलावा एक लड़के को स्कूल ऑफ आर्टस् में पढ़वाता है। दोस्तों की मदद करता है। किसी का लेना-देना नहीं। समाज में 'प्रतिष्ठित' होने की उसे कोई अभिलाषा नहीं, जिन्दगी से आसक्ति नहीं। 'प्रतिष्ठित' लोग उसे गुण्डा समझते हैं; और दलित, निस्सहाय गरीब उसे 'प्रतिष्ठित' समझते हैं।

मुझे यह समझ में नहीं आता था, अच्युतन क्यों किसी को वही शिक्षा दिलाता था जिस शिक्षा से उसका अपना कोई फायदा नहीं हुआ था। मैं उससे एक बार पूछ ही बैठा। उसका कहना था कि बिना शिक्षा के लोग तकलीफें झेलते हैं। पर यह नहीं जानते कि वे तकलीफें क्यों झेलते हैं, यह पढ़-लिखकर ही पता लगता है।

* * *

नींद नहीं आती थी। आँखें खोल टीन की छत पर देखने लगा। चिन्ता

जलाये जाती थी। कल से मेरा क्या होगा? अच्युतन अकेला है, कोई कहने-सुननेवाला नहीं, उसकी जो मर्जी सो करता है, भला मैं क्या करूँ? बीवी बच्चोंवाला हूँ। कहाँ-कहाँ मारा फिरूँ? बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का सवाल है। परिवार की देख-रेख करनी है। क्या किया जाय? देखा जायेगा। फिक्र करते-करते कौन-सा खुशहाल हो जाऊँगा।

अच्युतन खुर्राटे मार रहा था——न फिक्र, न परेशानी। मैंने सोने की कोशिश की, नींद न आयी, दिन में सो चुका। रात था की ड्यूटी होने के कारण जागने की आदत-सी हो गयी थी।

जितना सोचता कि न सोचूँ उतना ही सोचता जाता। एक अखबार क्यों न चलाया जाय——साप्ताहिक? और तो किसी काम के लायक भी नहीं। पहले कोशिश की थी, अब फिर करने का मौका है। भाग्य आजमाया जाये। कब तक यह गुलामी?

प्रेस चाहिए। प्रेस के बिना मार्केट में टिक नहीं सकते। प्रेस के लिए कम-से-कम पाँच-छः हजार रुपये की जरूरत होगी—बाद में उधार मिल सकता है। रिश्तेदार मदद करेंगे नहीं। सगे चाचा हैं, पैसेवाले हैं, तब दो हजार रुपये कर्ज देने के लिए दुनिया-भर के बहाने बना रहे थे। शायद यह सोशलिस्ट जमींदार दे दे। माँगा जाय।

. मैं पड़ा-पड़ा सोच रहा था कि स्टेशन की तरफ शोर-शराबा होने लगा। उठकर देखा, वहाँ कुछ लोगों का झुण्ड था—गरीब, बे-घरबार, भूखे-नंगे, थके-मांदों का। उनके बीचों-बीच एक पुलिसवाला डण्डा लिये खड़ा था। तहलका मचा हुआ था।

मैं उत्सुक हो उस ओर चल दिया। पुलिसवाले ने उनको वहाँ से उठा दिया था क्योंकि वहाँ सोने की मनाई थी। सोनेवाले—बाल बिखेरे, गन्दी-मैली स्त्रियाँ, दुबले-पतले-नंगे बच्चे—काले-सूखे आदमी, हड्डियाँ निकली हुई—गाल अन्दर, आँखें अन्दर, पुलिसवाले के पैरों पड़ रहे थे। वह अपना अधिकार दिखाने में मजा ले रहा था। शोर-शराबा सुन अच्युतन भी उठ आया। पुलिसवाले की तरफ उसने घूरकर देखा, पूछा—

"क्यों, अभी नये-नये आये हो ?"

पुलिसवाले ने कोई जवाब नहीं दिया। वह इस रौबीले सवाल को सुन हक्का-बक्का रह गया। "आओ, थोड़ी चाय पी लो।" अच्युतन पुलिस-वाले का हाथ पकड़ अपनी दुकान पर ले गया। बे-घरबार फिर सो गये। पुलिसवाला सचमुच नया था। अच्युतन ने उसे थोड़ा खिलाया-पिलाया और दफा किया जैसे रोजमर्रा का काम हो। निश्चिन्त हो चादर तानकर सो गया।

मैं अचम्भे में था। पुलिसवाला तो बुरी तरह घबराया हुआ था—अकेला था। दो फर्लांग तक सिवाय पादरी और झोंपड़ीवालों के और कोई नहीं। अच्युतन को देखकर उसके होश ठिकाने आ गये। जिस रास्ते आया उसी रास्ते चला गया।

मैं मेज पर पड़ा सोचने लगा—वह ठीक ही तो कहता है कि कष्ट झेलना एक बात है और उसे जान-बूझकर झेलना दूसरी बात। इन बे-पढ़ आदमियों को सोने के लिए भी जगह नहीं। इस दुनिया में न जाने वे क्या-क्या बर्दाश्त कर रहे हैं, पर सब बिना सोचे-विचारे, जानवरों की तरह।

सोचते-सोचते आँख लग गयी। सवेरे उठा तो अच्युतन अपने काम पर लगा हुआ था। होटल में दो-चार खरीदार भी थे। मैं जल्दी उठा और जाने के लिए तैयार हुआ।

"अरे बैठो भी, कॉफी पीकर जाना।" अच्युतन ने कन्धे पर हाथ रख जबरदस्ती बिठा दिया—"आज कौन-सा दफ्तर जाना है, इतनी जल्दी में हो ?" वह हँस पड़ा और मेरे दिल पर बर्फ-सा पड़ गया।

"जो हुआ सो भला हुआ।" मैंने कहा—"भगवान चाहेंगे तो किसी के दफ्तर नहीं जायेंगे।"

"हटाओ यार भगवान-वगवान की बात—आदमी और भगवान इस तरह मिले हुए हैं कि मालूम नहीं आदमी कहाँ खतम होता है और भगवान कहाँ शुरू होते हैं, निश्चय कर लो क्या करना है। पेट भरने के लिए कुछ-न-कुछ तो करना ही होगा।"

"मेरा ख्याल···"

"क्या ख्याल है ?"

"प्रेस खोलने का इरादा है--इरादा तो है, पर पैसे कहाँ से आयेंगे ?"

"अगर खुद काम किया जाय तो कितना चाहिए ?"

"जब तक दो हज़ार हाथ में न हों तो कोई उधार भी न देगा।"

"दो हजार ?···बड़ी रकम है—अच्छा, अब कॉफी पियो, फिक्र करने से क्या होता है ?" वह इत्मीनान से अपनी कुर्सी पर जा बैठा। दो-चार मिनट बाद तिरुवनन्तपुरम एक्सप्रेस गुज़री। मुझे रातवाली बात याद आ गयी।

मैंने हँसकर अच्युतन से कहा—"ताम्बरं से बीच तक, बीच से ताम्बरं तक !" अब उसकी मूड बदल चुकी थी। वह हँस पड़ा। कहने लगा—"पटरी तो तिरुवनन्तपुरम तक बिछी हुई है, कई गाड़ियाँ बीच तक जाती हैं तो कई तिरुवनन्तपुरम तक भी। इस बार तिरुवनन्तपुरम जायेंगे··· तुम हो आना, हमें ताम्बरं ही मुबारक !" वह और जोर से हँसने लगा।

मैं अखबार पढ़ रहा था। आधा घण्टे बाद कोई नवयुवक कोट-पेंट पहने, ऐनक लगाये, अच्युतन से बड़ी नम्रता से बातें कर रहा था। ऐसा लगता था कि कोई छोटा-मोटा प्रोफेसर भटक गया हो। अच्युतन पूछ रहा था--"कब आये ?"

"अभी तिरुवनन्तपुरम एक्सप्रेस से आया था।"

"कहाँ ठहरे हो ?"

"होटल में सामान डालकर सीधा चला आया हूँ—आपसे मिलने के लिए।"

अच्युतन ने मेरा उनसे परिचय कराया। वह तिरुवनन्तपुरम विश्व-विद्यालय में प्राध्यापक थे। हमारे कॉलिज में ही पढ़े थे। वह जब जाने के लिए तैयार हुए उन्होंने अच्युतन के हाथ में एक लिफाफा रखा—"आप मना न कीजिये, कर्ज था, किसी और की मदद हो सकती है।"

उनके जाने के बाद अच्युतन ने मुझसे हाथ मिलाते हुए कहा—"तुम भी अच्छे भाग्यशाली हो। तुम्हारे भगवान ने छत फाड़कर ही दिया—पूरे

छः सौ रुपये हैं। कभी पढ़ते वक्त मैंने इसकी मदद की थी, अब ब्याज सहित वापस कर गया है—ले जाओ, शुरू करो—छत टीन की ही तो है, भगवान को फाड़ते हुए अधिक दिक्कत भी न होगी। और भी मिलेगा।" उसने लिफाफा मेरे हाथ में रख दिया। मेरी आँखें भर आयीं। वह मुसकरा रहा था। इतने में ताम्बरं जानेवाली बिजली की गाड़ी खटखटाती गुजरी।

"ठहरो, अभी मत जाओ, अपशकुन है।" उसने कहा। हम दोनों हँस पड़े। हमारी हँसी में सन्देह, भय और निराशा थी।

मद्रास में ताम्बरं से बीच स्टेशन तक बिजली की गाड़ियाँ इधर से उधर जाती हैं—एग्मोर भी इसी पटरी पर एक बड़ा स्टेशन है।